दयानन्द-दर्शन

भूमिकामें श्रीस्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज लिखते हैं:-

"ग्रंथकर्त्ताने ऋषि दयानन्दके राष्ट्रीय स्वरूपका चित्र खींचते हुए उनके राजनैतिक सिद्धान्तोंको एक स्थानमें एकत्रित कर दिया है। दयानन्द-जन्म-शताब्दिके समय यह भी एक लाभदायक और आवश्यक भेंट है। जब धर्म, अर्थ, काम-तीनोंही क्रमशः मुक्तिधाम तक पहुंचनेके साधन हैं, तब राजनीतिको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा ही नहीं जा सकता है।"..............."मैं चाहता हूं कि इस ग्रन्थको भारतवर्षके राजनैतिक नेता तथा आर्यसमाजिक पुरुष मनन करनेके उद्देश्यसे पढ़ें।"

सत्यदेव विद्यालंकार

श्रीमद्दयानन्द-जन्म-शताब्दि-निमित्त

दयानन्द-दर्शन

अर्थात्

"महर्षि दयानन्दके राष्ट्रीय स्वरूपका चित्र"

लेखकः—

श्री पं. सत्यदेव विद्यालंकार, सम्पादक-'मारवाडी',

अध्यक्ष-आर्यन् यंगमैन्स एसोसियेशन, सीताबर्डी, नागपुर.

भूमिका-लेखक—श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज.

यह ग्रन्थ

आर्य जगतमें क्रान्ति पैदा करनेवाला है। महर्षिके राष्ट्रीय स्वरूपको अंकित करनेका यह पहिलाही उद्योग है। महर्षि दयानन्दका भारतीय राजनीतिमें स्थान दिखाने और आर्य साहित्य व आर्य जीवनमें राष्ट्र-धर्मका विकाश करनेके पवित्र हेतुसे यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसी लिये इसमें महर्षिके खण्डनात्मक कार्यका रहस्य, उनके राजनीतिक सिद्धान्त, देशभक्ति, स्वराज्य, साम्राज्य, चक्रवर्ती राज्य, राष्ट्रसंघ, सत्याग्रह, असहयोग, स्वदेशी, अछूतोद्धार (साम्यवाद), शुद्धि आदि विषयोंका उल्लेख उन्हींके शब्दोंमें किया गया है। आर्यसमाजकी स्थापनाके राष्ट्रीय उद्देश्यको बताते हुये, उनके जीवनपर एक राष्ट्रीय दृष्टि डाली गई है। 'महर्षि, लोकमान्य और महात्मा' तीनों महापुरुषोंकी इसमें तुलना की गई है।

मूल्य आठ आना

प्रारम्भिक निवेदन

'दयानन्द-दर्शन'के लिये प्रारम्भिक-निवेदनकी कुछ विशेष आवश्यकता नहीं। लेखककी महर्षि दयानन्द और आर्यसमाजके प्रति श्रद्धा और प्रेम उतना ही बढ़ता जाता है, जितना कि वह उन्हें राष्ट्रीय दृष्टिसे देखता है। लेखकका यह विचार दिन प्रतिदिन दृढ़ होता जा रहा है कि भारतके वर्तमान राष्ट्रधर्मके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती हैं। भारतीय राष्ट्र और आर्यसमाज दोनोंकी भलाई, लेखककी सम्मतिमें, उनके राष्ट्रधर्मके सक्रिय प्रचारमें ही है। यह पुस्तक इसीलिये लिखी गई है कि सर्वसाधारण, विशेषत: आर्यसमाजी, महर्षि दयानन्दके राष्ट्रीय स्वरूपका दर्शन कर उनके राष्ट्रधर्मको समझ सकें।

अपने आचार्यके प्रति महान् ऋणसे उऋण होनेकी आशासेही उनके जन्मशताब्दि-महोत्सव पर यह छोटीसी भेंट आर्यसमाजी भाइयोंकी सेवामें उपस्थित करनेका साहस किया है। 'साहस' इसी लिये है कि कई बार पहिलेभी इस विषय पर कुछ लिखनेकी इच्छा हुई, किन्तु पुस्तकाकार लिखनेका साहस न हुआ। शताब्दिके प्रसंग पर इच्छाको दबाना असम्भव होगया। गुरुवर्य श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराजने पुस्तककी भूमिका लिखकर महर्षिके राष्ट्रीय स्वरूप के चित्रको बढ़िया फ्रेममें मढ़ दिया है। उनकी इस कृपाके लिये लेखक उनका अत्यन्त आभारी है। 'प्रणवीर'के भूतपूर्व सम्पादक

श्री० पं० रामगोपालजी विद्यालंकारने पुस्तकके प्रकाशित करानेमें अथक सहायता की है। प्रूफ पढनेका अरुचिकर कार्य प्राय: उन्होंने ही किया है। लेखक उनका भी आभारी है।

पुस्तक बहुत जल्दीमें लिखा गया है और छपाईका काम तो केवल दस ही दिनमें हुआ है, वह भी मराठी प्रान्तके एक ऐसे हिन्दी प्रेसमें जिसमें सब कम्पोजिटर्स मराठी-भाषा भाषी ही हैं। इसलिये कुछ छपाईकी भूलें रह गई हैं, किन्तु उनसे भाव नहीं बदलता है।

हिन्दी-पाठकोंको लेखकके दो एक शब्द कुछ नये मालूम होंगे। जैसे कि 'भारतीय राष्ट्र' की जगह 'हिन्दी-राष्ट्र' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'हिन्दी राष्ट्र' मराठी भाषाका व्यावहारिक शब्द है और बिल्कुल स्वाभाविक अर्थका द्योतक है। महर्षि दयानन्दके कुछ उद्धरणोंका कई बार प्रयोग भी कुछ अखरता अवश्य है, किन्तु प्रस्तुत विषय वहां उनके दिये बिना निर्जीव सा जान पड़ता था।

अस्तु, यदि आर्य भाई महर्षि दयानन्दके राष्ट्रीय स्वरूपको समझनेका यत्न करेंगे और उनके दिखाये हुये राष्ट्र धर्मके मार्गकी ओर निःसंकोच हो आगे बढेंगे तो निश्चय ही लेखक अपनेको इस यत्नमें कृत्यकृत्य हुआ समझेगा।

ओसवाल-बिल्डिंग
महाल, नागपुर
बसन्तपंचमी १९८१

—सत्यदेव विद्यालंकार

भूमिका

वैदिक धर्म सारे संसारके सम्प्रदायोंका जन्मदाता होते हुए भी साम्प्रदायिक सीमाका उल्लंघन किये हुए है। संसारके सम्प्रदाय धर्मकी रक्षाके लिये स्थापन किये गये थे, परन्तु आज वेही सम्प्रदाय मूल धर्मको भूलकर गौण मतभेदोंके धर्मके वादानुवाद में लगे हुए हैं। जिस प्रकार शरीर को जीवित रखनेके लिये अन्न फलादिके आहारकी आवश्यकता है, इसी प्रकार आत्मिक जीवनकी संरक्षाके लिये भी धर्मरूपी आत्मिक आहार की आवश्यकता होती है। शरीर-रक्षाके लिये अन्न और फल मुख्य हैं, परन्तु उसी अन्न और फल की रक्षाके लिये खेत वा वाटिकाके इर्द गिर्द बाड लगानी पड़ती है। कैसा मूर्ख वह किसान है जो अन्न फल की पैदावारको भुलाकर अन्य किसानों की बाडोंसे ही अपनी बाडका मुकाबिला कर उनका तिरस्कार करता है? इसी प्रकार जीवात्माका धर्म अर्थात प्रकृतिके संसर्गसे छूटकर परमात्मामें स्वतन्त्र रूपसे विचरण मुख्य है। उसकी रक्षाके लिये जो साम्प्रदायिक विधियां नियत की गई हैं, वे खेतों की बाडों के सदृश ही गौण हैं। कितना मूर्ख वह साम्प्रदायिक पुरुष है, जो गौण नियमोंके विवादमें फंसकर अपने मुख्य धर्मको भूल जाता है।

वैदिक धर्म सार्वभौम और सार्वदेशिक है। इसका न कोई आदि और न कोई अन्त है। जिस धर्मका सदैव राज्य रहा हो, जो वर्तमान सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व था, जो प्रवाहसे अनादि चला आया है, जिसका सृष्टिक्रम समर्थन करता है वही वैदिक धर्म है। इसी के पुनरुद्धारके लिये ऋषि दयानन्दने आर्यसमाजकी बुनियाद डाली थी।

जब वैदिक धर्मका स्वरूप इतना व्यापक है तो संसारकी कोई भी नीति उसकी सीमासे बाहिर नहीं हो सकती। मनुमहाराजने कहा है कि 'आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।' परमधर्म आचार ही है, इसलिये राजनीति भी उस धर्मकी रक्षाका साधक होना चाहिये, बाधक नहीं। यही कारण है कि ऋषि दयानन्दने वैदिक धर्मकी व्याख्या करते हुए मानवीय किसी सम्बन्धको भी उपेक्षा की दृष्टिसे नहीं देखा।

इस ग्रन्थमें राजनीति सम्बन्धी ऋषि दयानन्दके सब विचारों को एकत्र कर दिया गया है। जिस प्रकार सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक विषयोंमें ऋषि दयानन्दने भारतके सर्व सम्प्रदायोंको सीधा मार्ग दिखलाया, उसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्रमें भी अपने आपको अनुभवी ऋषि सिद्ध किया। आध्यात्मिक क्षेत्रमें पौराणिक हिन्दुओं, जैनियों, सिक्खोंको जगाकर मुसलमानोंको भी 'शिर्क' के गढेमेंसे निकलनेके लिये उत्साहित किया। आर्थिक क्षेत्रमें आजसे ५० वर्ष पूर्व स्वदेशी वस्तुओंके प्रचारपर बल देकर आर्यपुरुषोंके पश्चिमकी ओर झुकते हुए भावको उसी स्थानमें रोककर स्वदेशके गौरवकी ओर निर्देश किया। सामाजिक क्षेत्रमें सब कुरीतियोंके दोष दिखलाकर उत्तम रीतिके संस्कार सारी प्रजापर डाले और राजनैतिक क्षेत्रके सुधारके लिये भी मूल सिद्धान्तोंका विशदरूपसे उत्तम शब्दोंमें वर्णन कर दिया।

उस समय ऋषि दयानन्दके बतलाये हुए वेद-प्रतिपादित राजनैतिक सिद्धान्तोंपर अमल करनेका बडेसे बडे राजनैतिक नेताओंकोभी साहस नहीं होता था। ऋषि दयानन्द उस समयकी भारतीय प्रजाके विचारोंसे आधी शताब्दि आगे बढ गए थे। इस लिये उनके श्रद्धालु अनुयायियोंपर भी उनकी शिक्षाने असर न

किया। मेरी दृष्टिमें अकेले गुरुदत्त विद्यार्थी थे जिन्होंने ऋषिके प्रत्येक रहस्यपूर्ण वचनको समझा था और यदि वह २५ वर्षकी आयुमेंही हम सबसे बिछुड न जाते तो जो चमत्कार भारतवर्षमें सं० १९७६ के अन्दर दिखाई दिया उसका आरम्भ २० वर्ष पूर्व ही हो जाता।

ग्रन्थकर्ताने ऋषि दयानन्दके राष्ट्रीय स्वरूपका चित्र खींचते हुए उनके राजनैतिक सिद्धान्तोंको एक स्थानमें एकत्र कर दिया है। दयानन्द जन्म शताब्दिके समय यह भी एक लाभदायक और आवश्यक भेंट है। जब धर्म, अर्थ, काम तीनोंही क्रमशः मुक्ति-धाम तक पहुंचानेके साधन हैं, तब राजनीतिको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखाही नहीं जा सकता।

आज से ६० वर्ष पूर्व हिन्दू जनताने अपने आपको जन्म-जन्मान्तर से दास समझ लिया था। विदेशी कहते थे कि प्रजातन्त्र राज्यकी गन्ध भी आर्योंके प्राचीन शास्त्रमें नहीं मिलती और स्वदेशीय उनका इस उक्तिपर सिर झुका देते थे। हिन्दुस्थानी नव-शिक्षितोंकी दृष्टिमें संस्कृत भाषाके अन्दर कोई बुद्धिमत्ता की बात ही दिखलाई नहीं देती थी। राजा राममोहनरायने उपनिषदोंके गौरव को अनुभव कर वैदिक ज्ञानकी ओर कुछ २ निर्देश किया। उनके प्रयत्नसे उठाये गये आन्दोलन को बाबू केशवचन्द्रसेन आदि उत्तराधिकारियोंने दबाकर खिष्ट्रीय सैमिटिक संस्कृतकी शरण ली, जिससे वैदिक सूर्य के गिर्द घिरे बादल और भी घने हो गये। परमार्थको स्वार्थ से अलग करनेका मत अधिक से अधिक बढता गया। ऐसे अन्धकारावृत समयमें ऋषि दयानन्दने ऐसा आत्मिक यज्ञ रचा कि उसके अग्निरूपी दूतने अविद्याके बादलोंको छिन्न भिन्न कर दिया और चकित संसारने वैदिक सूर्यके दर्शन किये। नव सिद्ध

हुआ कि स्वार्थ और परमार्थ, इहलोक और परलोक, राजनीति और धर्म सबके सब एकही शरीरके भिन्न आवश्यक अंग हैं। ये बाह्यरूपमें एक दूसरेसे पृथक दिखाई देते हुए भी एक ही केन्द्रके गिर्द घूमते हैं और एक ही स्रोतसे निकले हुए नाले हैं; जो अन्तको उसी स्रोतमें विलीन हो जाते हैं।

गत पांच वर्षोंके राजनैतिक आन्दोलनने स्पष्ट कर दिया है कि राष्ट्रोंको स्वतन्त्र करनेका जो मार्ग ऋषि-दयानन्द बतला गये थे, उसीके अवलम्बनसे संसारमें सुख और शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

मैं चाहता हूं कि इस ग्रन्थको भारतवर्षके राजनैतिक नेता तथा आर्य सामाजिक पुरुष मनन करनेके उद्देश्यसे पढ़ें और तत्व-वेत्ता दयानन्दके बतलाये हुए मार्ग पर चलनेके लिये उनके अपूर्व ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का स्वाध्याय अवश्य करें। क्योंकि जिस पथदर्शकने सत्य-मार्ग दिखाया है, वही उस मार्गमें आनेवाली कठिनाइयोंका हल भी बतला सकता है।

पं० सत्यदेव विद्यालंकारने इस ग्रन्थके अन्दर वैदिक-राष्ट्रीय भावनाको पुष्ट कर 'प्रजातन्त्र राज्य', 'स्वराज्य', 'साम्राज्य', 'चक्रवर्ती राज्य' और 'राष्ट्रसंघ'की व्यवस्थापर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है, और ऋषि-दयानन्दके लेखोंका यथास्थान उद्धरण देकर सिद्ध कर दिया है कि राजनैतिक क्षेत्रमें भी साधारण संसारिक नेताओंकी अपेक्षा तत्वदर्शी ऋषि अधिक विश्वसनीय अगुआ बन सकता है।

देहली
२९ पौष सं० १९८१

श्रद्धानन्द संन्यासी

'यदि मैंने 'सत्यार्थप्रकाश'के लिये कुछ भी टीका की है तो भी मैंने कई बार कहा है और लिखा है कि महर्षि दयानन्दने भारतवर्षकी और हिन्दू धर्मकी बडी सेवा की है। उनके आमरण ब्रह्मचर्यने मेरेपर बचपनमें ही बडा असर डाला था। उन्होंने हिन्दू जातिको जागृत किया।

'उन्होंने हिन्दू धर्मके कई वहमोंको दूर किया। इन सब बातों को कोई कभी भूल नहीं सकता है। मेरा दृढ अभिप्राय है कि महर्षि दयानन्दकी इन सेवाओंने उनको हिन्दू धर्मके बडे सुधारकका पद दिया है और उनके पवित्र नामको चिरस्मरणीय बना दिया है।'

देहली,
३० अक्तूबर

—मोहनदास गांधी

(१)

विषय-प्रवेश

भारतकी राष्ट्रीय जागृतिमें महर्षि दयानन्दका अपनाही स्थान है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतके राजनीतिक जगतमें कार्य करने वाले महापुरुषोंकी तरह महर्षिके राष्ट्रीय कार्यको सर्व-साधारणने समझा नहीं है। सर्वसाधारण जनताके लिए वे एक धार्मिक महापुरुष और सामाजिक सुधारक ही हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि महर्षिके समयमें और उनके बाद भी बहुत समयतक भारतका राष्ट्रीय जीवन किसी स्पष्ट रूपमें प्रगट ही न हुआ था। महर्षिके कार्यका समय वह है जब कि अभी कांग्रेसका जन्म भी न हुआ था और वस्तुतः कांग्रेसको भी राष्ट्रीय स्वरूप सन १९०५ या १९०६ से पहिले प्राप्त

नहीं हुआ। किन्तु महर्षि दयानन्दने उच्चतम राष्ट्रीय भावनासे प्रेरित होकर ही १८७५ ईस्वी सनमें आर्य समाजकी स्थापना बंबई शहर में की थी। राष्ट्रीय-शब्दकोपमें 'स्वराज्य' शब्दका अभी समावेश भी न हुआ था और राष्ट्रीय मंचपरसे भी सन १९०६ में पहिली बार सभापति श्री दादाभाई नवरोजीने 'स्वराज्य' शब्दका प्रयोग किया, लोकमान्यने सन १९१६ में लखनऊ कांग्रेसमें उसके जन्मसिद्ध अधिकार होनेका दावा किया और राष्ट्रीय महासभाने सन १९२० में नागपुरके अधिवेशनमें स्वराज्य-प्राप्ति अपना ध्येय ठहराया, किन्तु महर्षि दयानन्दने अपने ग्रन्थोंमें स्थान स्थानपर भारतके लिये स्वराज्य, साम्राज्य और चक्रवर्ती राज्यकी चर्चा की है। उनके स्वराज्यकी कल्पना और साम्राज्य व चक्रवर्ती राज्यका स्वरूप यथास्थान दिखाया जायगा। लोकमान्यके दावेको पूरा करनेके लिये महात्माजी आज देशवासियोंको 'राजकीय मार्ग' दिखा रहे हैं; महर्षि दयानन्दने भी "विदेशियोंके आर्यावर्तमे राज्य होनेका कारण आपसकी फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्यका सेवन न करना, विद्या न पढना पढाना वा बाल्यावस्थामें अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेद विद्याका अप्रचार आदि कुकर्म" बताते हुये लिखा है "जब आपसमें भाई भाई लडते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।" "जबतक एकमत, एक हानि लाभ, एक सुख दु:ख परस्पर न मानें तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है।" आपसकी फूटसे कौरव, पाण्डव और यादवोंका सत्यानाश हो गया, परन्तु अबतक भी वही रोग पीछे लगा है, न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्योंको सब सुखोंसे छुडाकर दु:ख-सागर

में डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक, नीचके दुष्ट मार्गमें आर्य लोग अबतक भी चलकर दुःख बढा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हममेंसे नष्ट हो जाय।" (स० प्र० १०।२६०) इसी प्रकार स्वदेशीके लिए भी उन्होंने जिन शब्दोंमें अपील की है वे स्मरणीय हैं। वे लिखते हैं कि " देखो ! (युरोपियन लोग) अपने देशके बने हुये जूतेको कार्यालय (आफिस) और कचहरीमें जाने देते हैं, इस देशी जूतेको नहीं, इतनेमें ही समझ लेओ कि अपने देशके बने जूतोंका भी जितना मान प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। देखो ! कुछ सौ वर्षसे ऊपर इस देशमें आये युरोपियनोंको हुये आज तक ये लोग मोटे कपडे आदि पहरते हैं, जैसा कि स्वदेशमें पहिरते थे। परन्तु उन्होंने अपने देशका चाल-चलन नहीं छोडा और तुममेंसे बहुतोंसे लोगोंने उनका अनुकरण कर लिया। इससे तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान ठहरते हैं।" (स० प्र० ११।३९९) इसी तरह 'सत्यार्थप्रकाश' के अन्तिम हिस्से "स्वमन्तव्यामन्तव्य" में मनुष्यका लक्षण करते हुये स्वामीजीने असहयोगको 'अप्रियाचरण' का नाम देते हुये उसका प्रतिपादन किया है। सत्य या सत्याग्रह तो स्वामीजीके सारे कार्यका मूलभूत तत्व और आर्यसमाजकी आधार-शिला है। हिन्दू समाजमें छूआछूतकी बुराईकी नीचताको महात्माजीके उपदेश व आदेश द्वारा राष्ट्रीय महासभा व राजनीतिक नेताओंने अब समझा है, किन्तु महर्षि पहिले भारतीय हैं जिन्होंने हिन्दु समाजकी इस बुराईपर कुठाराघात करते हुये 'आर्यसमाज'के जीवनमेंसे छूआछूतको ही उठा दिया है।

समस्त-भारतीय-राष्ट्रकी एक राष्ट्रीय भाषाका विचार बीसवीं सदी के महापुरुषोंकी कल्पना समझी जाती है किन्तु द्विजन्मा महर्षि माता-पिताके जन्मसे गुजराती भाषाके विद्वान और आचार्यके जन्मसे संस्कृत भाषाके अद्वितीय पण्डित होते हुये भी हिन्दी भाषा (आर्यभाषा) को अपनाकर बता गये कि यही भारतीय राष्ट्रकी राष्ट्रभाषा हो सकती है। राजर्षि गोखले निश्शुल्क बाधित शिक्षाके विचारके जन्मदाता माने जाते हैं, किन्तु महर्षिने शिक्षाके विषयमें लिखते हुये स्पष्ट ही लिखा है कि "इसमें राज-नियम और जाति-नियम होना चाहिये कि पांचवें व आठवें वर्षके आगे कोई अपने लडके और लडकियोंको घरमें न रख सके। पाठशालामें अवश्य भेज देवें, जो न भेज देवे वह दण्डनीय हो।" (स० प्र० ३।३२) हिन्दू लोग गौको मातृतुल्य मानते और पूजते हैं। महर्षि ही पहिले भारतीय हैं, जिन्होंने 'गोकरुणानिधि' ग्रन्थ लिखकर गौ आदि दूध, घी आदि देने वाले पशुओंकी ओरसे अपील की और लिखा कि "जबसे विदेशी मांसाहारी इस देशमें आके गौ आदि पशुओंके मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुये हैं, तबसे क्रमशः आर्योंके दुःख की बढती होती जाती है।" (स० प्र० १०।२८२)

महर्षिसे मतभेद

महर्षिकी देशभक्ति, उनकी स्वराज्यकी कल्पना, उनकी राज-नीतिका स्वरूप और उनके राष्ट्रीय स्वरूपके दर्शनका उल्लेख तो अन्यत्र यथास्थान किया जायगा किन्तु यहां यह कहना अत्युक्ति

नहीं है कि महर्षिने देशोन्नतिका कोई भी प्रश्न नहीं छोड़ा जिसपर प्रकाश नहीं डाला। समाज-सुधारको वैयक्तिक सुधारसे प्रारम्भ करते हुये राष्ट्रका सुधार और उसीसे संसारका उपकार करना उनके जीवनके कार्यका सार व रहस्य है। इसी लिये महर्षिने मनुष्यकी उन्नतिका आधार ब्रह्मचर्य-व्रतको बताते हुये आश्रम-व्यवस्थाको मनुष्य-जीवनकी वैयक्तिक उन्नतिके लिये एवं वर्ण-व्यवस्थाको समाज व राष्ट्रकी उन्नतिके लिये आवश्यक बतलाया। महर्षिके विचारोंसे अत्यन्त अधिक मतभेद रखने वाले लोग भी महर्षिकी बड़ाई करने से जी नहीं चुराते। कोई उनके धार्मिक कार्यकी, कोई सामाजिक कार्यकी, कोई सुधार कार्यकी एवं दूसरे उनके दूसरे कार्योंकी बड़ाई करते ही हैं। उनके विषयमें जानकारी रखनेवाला कमसे कम इतना तो कहता ही है कि कलि-कालके इस युगके आदर्श ब्रह्मचारी दयानन्द को मेरा प्रणाम हो। महर्षिके प्रति विश्वास, भक्ति और श्रद्धा रखते हुये भी यदि कोई उनसे मतभेद रखता है तो उनके अन्य मत मतान्तरोंकी समीक्षा व खण्डन मण्डनके कार्यसे ही। अनेक लोगों का ऐसा विचार है कि उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "सत्यार्थ-प्रकाश"का उत्तरार्ध, जिसमें मत-मतान्तरोंका खण्डन है, इस समय उससे अलग कर देना चाहिये। समयकी हवाका रुख देखकर बोलने चालने वाले सभीके दिलमें ऐसा विचार पैदा होना सहज है। इन पंक्तियों के लेखकका भी पहिले ऐसा ही विचार था और आर्यसमाजके खण्डनात्मक कार्य शास्त्रार्थ आदिमें अभीतक भी उसकी रुचि पैदा नहीं हुई है। इसका कारण कदाचित यही था कि उसने "सत्यार्थ-प्रकाश"के उत्तरार्धको पढनेकी कभी आवश्यकता ही अनुभव न

की थी। किन्तु जिस समय सन १९१९ में महर्षिके सहिष्णु, असहिष्णु होनेके विषयमें विवाद चला उस समयके विवादको, विशेषतः आर्यसमाजी भाइयोंके थोथे, युक्तिशून्य, प्रमाण-रहित और केवल आवेशयुक्त लेखोंको देखते हुये, लेखकके दिलमें विशेष चाव पैदा हुआ कि वह महर्षिके खण्डनात्मक कार्यकी गहराईमें पहुंचनेका यत्न करें। लगभग दो चार साल पूर्वसे इस समय तक वह महर्षिके खण्डनात्मक कार्यका रहस्य जाननेके लिये ही 'सत्यार्थप्रकाश'का आद्योपान्त दो तीन बार पाठ कर चुका है। अन्तिम बार पूरा पाठ करनेका दुर्लभ अवसर तब प्राप्त हुआ जब कि उसे वर्धा के 'हिज मेजेस्टीज होटल' (जेल)में आराम करनेका तीन मासका समय मिला था। उसी समय यह स्फूर्ति हुई कि आचार्य दयानन्दके राष्ट्रीय दर्शनका चित्र अवश्य अंकित करना चाहिये। लेखकको महर्षिके (आर्यसमाजके नहीं) खण्डनात्मक कार्यमें दिनपर दिन रुचि पैदा होती रही है और 'सत्यार्थ-प्रकाश' के पढनेसे नये विचार व नयी भावना हर बार जागृत हुई है।

खण्डन-मण्डनात्मक कार्यका रहस्य

महात्माजीने महर्षिको जब असहिष्णु बताया था तभी लेखकने अपने कुछ विचार आर्यसमाजके एक प्रमुख पत्र (?) में लेख रूपमें प्रकाशित करनेके लिये भेजे थे। सम्पादक महोदयने उस लेखको उस समयकी आर्यसामाजिक रुचि एवं अपने पत्रकी नीतिके विरुद्ध समझते हुये पत्रके योग्य नहीं समझा था। उस समय लेखकका ऐसा विचार था कि पूज्य महात्माजीका महर्षिको असहिष्णु बताना केवल इसी लिये है कि वह महर्षिके विषयमें इतना

परिचय नहीं रखते और महर्षिके अनुयायी हम आर्यसमाजी लोगोंकी खण्डनात्मक परिपाटीको देखते हुये ही उन्होंने महर्षिको असहिष्णु बताया है; महात्माजीके* उक्त कथनके प्रतिवादमें प्रकाशित हुये लेखोंको देखकर लेखकने उस लेखमें लिखा था कि महर्षि असहिष्णु थे कि नहीं, यह विचारणीय है; किन्तु आर्यसमाजी लोग असहिष्णु हैं, यह उनके लेखोंसे स्पष्ट हो गया है। अस्तु, कहनेका तात्पर्य यही है कि आर्यसमाजकी या आर्यसमाजके कुछ प्रचारकोंकी आवेशयुक्त खण्डन-मण्डनात्मक परिपाटीको देखते हुये महर्षिके खण्डनात्मक कार्यमें अरुचि होना सहज है। महर्षिके राष्ट्रीय रूपका दर्शन करानेसे पहिले उनके खण्डनात्मक कार्यका रहस्य प्रगट कर देना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि इस रहस्यका उद्घाटन एक पृथक लेखका विषय है, फिर भी इस लेखके प्रस्तुत विषयके लिये इस विषयका स्पष्ट करना जितना आवश्यक है, यहां उतनाही लिखेंगे।

मतभेदकी परीक्षा और महर्षिका पवित्र विचार

लोकमान्यने गीताका तात्पर्यार्थ (रहस्य) जाननेके लिये मीमांसक लोगोंके मतको मुख्यता दी है। वस्तुतः ग्रन्थ, प्रकरण, वाक्य आदिके अर्थका निर्णय करनेमें मीमांसक लोग जैसे कुशल हैं, वैसा दूसरा कोई नहीं। इस विषयमें उनका सर्वमान्य मत इस श्लोकसे स्पष्ट है कि:—

"उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य-निर्णये॥"

अर्थात किसी भी लेख ग्रन्थ, प्रकरण, वाक्य व कथनके अर्थके निर्णय करनेमें सात बातें साधन-स्वरूप हैं। पहिली और दूसरी बातें ग्रन्थका आरम्भ और अन्त (उपक्रमोपसंहारौ) हैं। किसी ग्रन्थके ग्रन्थकारका अभिप्राय जाननेके लिये देखना चाहिये कि उसने किस विशेष अभिप्रायसे ग्रन्थका आरम्भ एवं अन्त किया है। तीसरी बात (अभ्यास) पुनरुक्ति है। ग्रन्थकार अपना विशेष अभिप्राय अपने ग्रन्थमें यत्र तत्र अवश्य ही बार बार प्रगट करता है। चौथी बात (अपूर्वता) नवीनता और पांचवी 'फल' है। किसी न किसी विशेष अभिप्राय (नवीनता) से प्रेरित होकर ही ग्रन्थकार ग्रन्थ लिखता है, एवं अपने विशेष वक्तव्य का परिणाम (फल) भी अवश्य जतलाता ही है। छठी बात अर्थवाद और सातवीं उपपत्ति है। अर्थवादसे तात्पर्य उन विषयोंका है जिनका कि मुख्य विषय या मुख्य प्रयोजनके स्पष्ट करनेके लिये ग्रन्थकार वर्णन करता है। यह दूसरे विषय ग्रन्थकारके मुख्य विषय को उल्टी ओर ले जानेके लिये साधन बनाये जा सकते हैं। किन्तु यथार्थ तात्पर्य जानने वालेको चाहिये कि इन्हें गौण ही समझे, मुख्य नहीं। इस प्रकार इन साधनोंकी सहायतासे जब जिज्ञासु सीधे मार्गपर आ जाता है तब वह उपपत्ति (ग्रन्थके मुख्य विषयके तारतम्य)से लेखकका प्रयोजन सहजमें जान जाता है। महर्षिने इस सम्पूर्ण आशयको अपने शब्दोंमें इस प्रकार दिया है कि "जो कोई इस ग्रन्थकर्ताके तात्पर्यसे विरुद्ध मनसासे देखेगा, उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा, क्योंकि वाक्यार्थ-बोधमें चार कारण होते हैं; आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातों

पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थको देखता है, तब उसको ग्रन्थका अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है।" (स० प्र० भूमिका ६-७) इस प्रकार महर्षिके खण्डनात्मक कार्यका रहस्य जाननेके लिये इसी मार्गका अनुसरण करना चाहिये।

'सत्यार्थ-प्रकाश' महर्षिका इस विषयमें मुख्य ग्रन्थ है। उक्त कसौटियोंपर इस ग्रन्थकी परीक्षासे महर्षिके खण्डनात्मक कार्यका रहस्य जानना सहज है। 'सत्यार्थप्रकाश'की भूमिकाके पहिले ही शब्द हैं कि "मेरा इस ग्रन्थके बनानेका मुख्य प्रयोजन सत्य सत्य अर्थका प्रकाश करना है।" महर्षिका यह प्रयोजन उनके ग्रन्थ के नाम "सत्यार्थ-प्रकाश"से भी स्पष्ट है। आगे वे लिखते हैं कि "अर्थात जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थका प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्यके स्थानमें असत्य और असत्यके स्थानमें सत्यका प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसाही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्यको भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वालेके सत्यको भी असत्य सिद्ध करनेमें प्रवृत्त होता है। इसलिये वह सत्य मतको प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये विद्वान आप्तोंका यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्योंके सामने सत्यासत्यका स्वरूप समर्पित करदें। पश्चात वे स्वयं अथवा हिताहित समझकर सत्यार्थका ग्रहण और मिथ्यार्थका परित्याग करके सदा आनन्दमें रहें। मनुष्यका आत्मा सत्यासत्यका जानने वाला है, तथापि अपने प्रयोजनकी सिद्धि, हठ, दुराग्रह

और अविद्यादि दोषोंसे सत्यको छोड असत्यमें झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थमें ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसीका मन दुखाना व किसीकी हानिपर तात्पर्य है किन्तु जिससे मनुष्य जातिकी उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्यको मनुष्य लोग जानकर सत्यका ग्रहण और असत्यका परित्याग करे, क्योंकि सत्योपदेशके बिना अन्य कोई भी मनुष्य जातिकी उन्नतिका कारण नहीं है।" इस प्रकार सत्यकी सब-सम्मत व्याख्या करते हुये महर्षिने अपने ग्रन्थका प्रयोजन "सत्य मत प्रगट करते हुये मनुष्य जातिकी उन्नति" बताया है। ग्रन्थके आदिसे अन्त तक जिस विषयका तारतम्य बंधा हुवा है, वह यही विषय है। भूमिका के साथ ग्रन्थके अन्तका 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' मिलाकर पढनेसे महर्षिके ग्रन्थका उपक्रम और उपसंहार जान पडते हैं। भूमिकासे जैसा उद्धरण ऊपर दिया गया है, वैसा ही उद्धरण 'मन्तव्यामन्तव्य'से भी दिया जा सकता है। मनुष्यके धर्म और सत्यकी व्याख्या दोनों लेखोंमें एक सी है। ग्रन्थके आद्योपान्त विलोडनसे भी सहजमें यह सब प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। प्रथम समुल्लासमें परमेश्वरके सौ नामोंकी व्याख्या इसी लिये की गई कि आर्यावर्तमें प्रचलित मत-मतान्तरोंके आराध्य देवोंकी एकरूपता दिखाई जाय। पुराणों एवं दूसरे पौराणिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे जाना जा सकता है कि किस प्रकार परमात्माके एक नामको लेकर उसीको सर्वस्व मानते हुये एक एक मत प्रवर्तित कर दिया गया है। शैव लोगोंने शिव, वैष्णव लोगोंने विष्णु एवं दूसरे साम्प्रदायिक लोगोंने एकही परमेश्वरके दूसरे नामोंको लेकर दूसरे दूसरे सम्प्रदाय चला दिये। महर्षिने यही आशय इन

शब्दोंमें दिया है, "जैसे एक गुरुकी सेवामें चेलाओंने लीला की इसी प्रकार जो एक अखण्ड सच्चिदानन्दानन्त-स्वरूप परमात्माके विष्णु रुद्रादि अनेक नाम हैं, इन नामोंका अर्थ जैसा कि प्रथम समुल्लासमें प्रकाश कर आये हैं, उस सत्यार्थको न जानकर शैव, शाक्त, वैष्णव आदि लोग परस्पर एक दूसरेकी निन्दा करते हैं। मन्दमति तनिक भी अपनी बुद्धिको फैलाकर नहीं विचारते हैं कि ये सब विष्णु, रुद्र, शिव आदि नाम एक अद्वितीय, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, जगदीश्वरके अनेक गुण, कर्म, स्वभाव युक्त होनेसे उसीके वाचक हैं।"(स०प्र० ११।३१९-३२०) ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, तीनों नाम एकही परमात्माके हैं। सम्पूर्ण जगतका उत्पादक होनेसे ब्रह्मा, रक्षक होनेसे विष्णु और संहारक होनेसे रुद्र एकही परमात्माके भिन्न२ कर्मोंके अनुसार भिन्न२ नाम हैं। किन्तु भिन्न २ सम्प्रदायोंके लोगोंने उसके एक एक अंशकी, एक एक नाम से प्रार्थना, उपासना, भक्ति शुरु कर दी। यह भेद बढ़ते बढते इतना बढ गया कि वह पारस्परिक निन्दा, विरोध एवं द्वेषमें परिणत हो गया। इस पारस्परिक निन्दा, विरोध व द्वेषके मूल कारण भेद-भावको दूर करनेके लिएही महर्षिने परमात्माके सब नामोंकी एक-रूपता सौ नामोंकी व्याख्यासे प्रथम समुल्लासमेंही प्रगट की। दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें समुल्लासमें मनुष्य एवं मनुष्य समाजकी उन्नति के लिये आधार-रूप वर्णाश्रम धर्मकी व्याख्या की गई। राष्ट्ररूप समाजकी राजनीतिक उन्नतिके लिएही छठे समुल्लासमें राजधर्मका उपदेश किया गया। सातवें, आठवें, नवें, और दसवें समुल्लासमें वेदोक्त मत के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विषयोंका मण्डन किया है। ग्यारहवां, बारहवां, तेरहवां और चौदहवां समुल्लास खण्ड-

नात्मक हैं। इन समुल्लासोंके विशेष विवेचनसे महर्षिके खण्डनात्मक कार्यका विशेष परिचय मिलता है। ग्यारहवें समुल्लाससे पहिलेकी अनुभूमिकामें महर्षिने लिखा है कि "इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्यके विचार करनेमें अधिक परिश्रम न हो, इस लिए यह ग्रन्थ बनाया है। पक्षपात छोडकर इसको देखनेसे सत्यासत्य मत सबको विदित होजायगा, पश्चात् सबको अपनी अपनी समझसे सत्य मतका ग्रहण करना और असत्य मतको छोडना सहज होगा।" अपने खण्डनात्मक कार्यका तात्पर्य कहते हुये महर्षि लिखते हैं कि "इस मेरे कर्मसे यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें, क्योंकि मेरा तात्पर्य किसीकी हानि व विरोध करनेमें नहीं किन्तु सत्यासत्यका निर्णय करने करानेका है।........मनुष्य जन्मका होना सत्यासत्यका निर्णय करानेके लिये है, न कि वाद-विवाद विरोध करने करानेके लिये। इसी मतमतान्तरके विवादसे जगत्में जो जो अनिष्ट फल हुये, होते हैं और होंगे, उनको पक्षपात-रहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जबतक इस मनुष्य जातिमें परस्पर मिथ्या मत-मतान्तरका विरुद्ध वाद न छूटेगा तबतक अन्योन्यको आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या, द्वेष छोड सत्यासत्यका निर्णय करके सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करना कराना चाहें तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानोंके विरोध ही ने सबको विरोध-जालमें फंसा रखा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजनमें न फंसकर सबके प्रयोजनको सिद्ध करना चाहें तो अभी ऐक्य मत हो जावें।............सर्वशक्तिमान परमात्मा एक मतमें प्रवृत्त होनेका

उत्साह सब मनुष्योंके आत्माओंमें प्रकाशित करे।" मनुष्य-मात्रके सन्मुख सत्यको प्रकट करते हुये सत्यके आधारपर ही सबको एक मतमें लाकर मनुष्यमात्रकी उन्नति करना ही महर्षिका उद्देश्य है, किन्तु किसीकी हानि व विरोध करना नहीं हैं। उपकार महर्षिका लक्ष्य है, यदि कोई उपकार नहीं मानता है तो महर्षि स्पष्ट कहते हैं कि वह विरोध अर्थात् अपकार भी न माने। इसी प्रकार बारहवें समुल्लास, जिसमें जैनियोंके खण्डनका विषय है, की अनुभूमिकामें महर्षि लिखते हैं कि "जो जो जैनियोंके मत विषयमें लिखा गया है सो सो उनके ग्रन्थोंके पते पूर्वक लिखा है। इसमें जैनी लोगोंको बुरा न मानना चाहिये क्योंकि जो जो हमने इनके मत विषयमें लिखा है वह केवल सत्यासत्यके निर्णयार्थ है, न कि विरोध व हानि करनेके अर्थ। इस लेखको जब जैनी, बौद्ध व अन्य लोग देखेंगे तब सबको सत्यासत्यके निर्णयमें विचार और लेख करनेका समय मिलेगा और बोध भी होगा। जबतक वादी प्रतिवादी होकर प्रीतिसे वाद या लेख न किया जाय तबतक सत्या-सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वानोंमें सत्यासत्यका निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानोंको महा अन्धकारमें पडकर बहुत दुःख उठाना पडता है, इसलिये सत्यके जय और असत्यके क्षयके अर्थ मित्रतासे वाद व लेख करना हमारी मनुष्य जातिका मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्योंकी उन्नति कभी न हो।" यही आशय सन्मुख रखते हुये महर्षिने ईसाई मतकी परीक्षा करने से पहिले तेरहवें समुल्लासकी अनुभूमिका में लिखा है कि "यह लेख केवल सत्यकी वृद्धि और असत्यके

ह्रास होने के लिये है, न कि किसीको दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगानेके अर्थ।" ऐसेही यवन-मत (मुसलमानी सम्प्रदाय) की समीक्षा करनेसे पहिले चौदहवें समुल्लासकी अनुभूमिकामें वे लिखते हैं कि "यह लेख केवल मनुष्योंकी उन्नति और सत्यासत्यके निर्णयके लिये सब मतोंके विषयोंका थोडा थोडा ज्ञान होवे, इससे मनुष्योंको परस्पर विचार करनेका समय मिले और एक दूसरेके दोषोंका खण्डन कर गुणोंको ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठ मूठ बुराई वा भलाई लगानेका प्रयोजन है किन्तु जो जो भलाई है वही भलाई और जो बुराई वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसीपर झूठ चला सके और न सत्यको रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित कियेपर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने वा माने, किसीपर बलात्कार नहीं किया जाता।.......................
यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटानेके लिये किया गया है, न कि इनको बढानेके अर्थ। क्योंकि एक दूसरे की हानि करनेसे पृथक् रह परस्परको लाभ पहुंचाना हमारा मुख्य कर्म है।" यवन-मतकी समीक्षाके अन्तमें भी महर्षि लिखते हैं कि "परमात्मा सब मनुष्योंपर कृपा करे कि सबसे सब प्रीति, परस्पर मेल और एक दूसरेके सुखकी उन्नति करनेमें प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना वा दूसरे मत-मतान्तरोंका दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूं, इसी प्रकार यदि सब विद्वान करें तो क्या कठिनता है कि परस्परका विरोध छूट मेल होकर आनन्दमें एकमत होके सत्यकी प्राप्ति सिद्ध हो।" ग्रन्थके अन्तिम

भाग 'मन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश 'में भी महर्षिने यही लिखा है कि "मैं अपना मन्तव्य उसीको जानता हूं कि जो तीन कालमें सबको एकसा मानने योग्य है। मेरा कोइ नवीन कल्पना व मतमतान्तर चलानेका लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोडना और छुडवाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्तमेंसे प्रचरित मतोंमेंसे किसी एक मतका आग्रही होता, किन्तु जो जो आर्यवर्त वा अन्य देशोंमें अधर्मयुक्त चाल-चलन है उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बाते है उनका त्याग नहीं करता और न करना चाहता हूं, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्मसे बाहिः है।" इस प्रकार "सत्यार्थप्रकाश"की भूमिकासे लेकर उसके अन्तिम भाग "मन्तव्यामन्तव्यप्रकाश"तक एक ही विषयका तारतम्य बन्धा हुआ है। अपने ग्रन्थका जो अभिप्राय महर्षिने व्यक्त किया है, वह सर्वत्र यत्र तत्र एकसा ही है और वह संक्षेपमें यही है कि सत्यरूपी एकमतकी डोरीमें आर्यावर्तवासियोंको बांधकर एकमत, एक हानि लाभ, एक दुःख सुख मनवाकर उनकी उन्नति की जाय और उनकी उन्नतिसे मनुष्यमात्रकी उन्नति की जाय। इस तरह अभ्यासकी कसौटीपर महर्षिके ग्रन्थकी परीक्षा हो गई।

'अपूर्वता फलम्'की कसौटियों पर परख करनेसे भी जिज्ञासु ऊपरके ही परिणाम पर पहुंचता है। जिस विशेष अभिप्राय व वक्तव्यसे महर्षिने 'सत्यार्थप्रकाश' लिखना प्रारम्भ किया है वह ग्रन्थकी भूमिकामेंसे ऊपर दिये गये उद्धरणोंसे स्पष्ट है और जिस अभिप्रायसे महर्षिने खण्डनात्मक समुल्लास लिखे हैं वह उन समुल्लासों की अनुभूमिकासे दिये गये उद्धरणोंसे स्पष्ट है। इसी प्रकार "मन्तव्यामन्तव्य"में

अपने ग्रन्थका जो 'फल' महर्षिने बताया है; वहभी ऊपर दे दिया गया है। अपूर्वता और फलकी तरह ही 'अर्थवाद' और 'उपपत्ति' की परीक्षा भी ऊपर दिये उद्धरणोंसे की जा सकती है। आर्यावर्त-वासियोंकी उन्नतिसे मनुष्यमात्रकी उन्नति यह 'सत्यार्थप्रकाश'का मुख्य विषय है जिसका सम्पूर्ण ग्रन्थमें तारतम्य बंधा हुआ है। मीमांसकों के मतानुसार परीक्षा करनेमें यह स्पष्ट है कि महर्षिने 'मनुष्य जाति की उन्नति'के महान, उच्च, शुभ और पवित्र विचारको सम्मुख रखते हुये ही 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा एवं खण्डन-मण्डनका कार्य किया।

धार्मिक असहिष्णुताके आक्षेपकी परीक्षा

अब यह कहा जा सकता है कि चाहे महर्षिने शुद्ध और पवित्र उद्देश्यसे कार्य किया, किन्तु जिस(खण्डन मण्डनात्मक)विधिसे वे अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे, वह उपयुक्त नहीं था। अर्थात "महर्षिने दूसरोंके मतमतान्तरोंका खण्डन करके उनके दिलोंको दुःख पहुंचाया। खण्डनमें बहुत ही कठोर भाषाका प्रयोग किया एवं परस्पर लोगोंमें धार्मिक असहिष्णुता पैदा की और लोगोंमें धर्माधर्मके विषयमें व्यर्थ ही रूखी सूखी वहम पैदा कर दी।" बाह्य दृष्टिसे यह आक्षेप ठीक जान पड़ता है, किन्तु कुछ गहरी दृष्टि से देखनेसे इस आक्षेपकी अ-यथार्थता जानी जा सकती है। इस आक्षेपकी सचाईपर विचार करनेसे पहिले 'धर्म'के सत्य स्वरूप और तात्कालिक विकृत रूपपर कुछ विचार करना आवश्यक है। शास्त्रीय प्रमाणोंको कुछ देरके लिये अलग रखते हुये केवल व्यावहारिक दृष्टिसेही इस विषयपर कुछ विचार करेंगे।

धर्मका सत्य स्वरूप और उसकी विकृत दशा

ऐहिक और ऐहिक द्वारा पारमार्थिक उन्नतिके लिये धर्म है। जिन कर्मोंसे मनुष्य समाज (संसार) की ऐहिक उन्नति और उससे पारमार्थिक उन्नति होती है, उन कर्मोंको जिन नियमोंसे व्यवस्थित किया जाता है, वे नियम धर्म हैं। मनुष्य समाजके तीन मुख्य भेद हैं; एक व्यक्ति, दूसरा समष्टि, तीसरा विश्व। इनके लिये दूसरे शब्द हैं, मनुष्य, समाज और राष्ट्र। अर्थात् मनुष्य (व्यक्ति), समाज (समष्टि) और राष्ट्र (विश्व), तीनोंकी उन्नतिके लिये धर्म है। जिससे किसी एक मनुष्यकी ही उन्नति होती हो, या अकेले किसी एक समाजकी ही उन्नति होती हो अथवा किसी अकेले राष्ट्रका ही भला होता हो वह सर्वमान्य धर्म नहीं है। "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्स-सिद्धिः स धर्मः", धर्मके इस लक्षणका यही आशय है एवं "अहिंसा परमो धर्मः" के लक्षणका भी यही गूढ अर्थ है। वह धर्म नहीं है जिससे (मनुष्य, समाज व राष्ट्रमेंसे) किसीके भी प्रति हिंसा, पाप व अत्याचार होता हो। आजकल संसारमें धर्म और राजनीतिका भयंकर कलह है। धर्म और राजनीतिको बिलकुल अलग अलग समझा जाता है, किन्तु धर्म और राजनीति कुछ भिन्न भिन्न नहीं हैं। व्यक्तिकी उन्नतिके लिये जिन नियमोंके पालन करनेकी आवश्यकता है वे 'धर्म' कहे जाते हैं और समाज व राष्ट्रकी उन्नतिके लिये जिन नियमोंका पालन करना आवश्यक है उन्हें 'राजनीति' कहा जाता है। अपने प्राचीन नीति-ग्रन्थोंमें राजनीतिको राजधर्म या राजनीति-धर्म आदि धर्म-संयुक्त शब्द दिये गये हैं। धर्म और रा-

जनीति मनुष्य जातिके शरीरके दो फेफड़े हैं। मनुष्य, समाज व राष्ट्रके जीवनकी रक्षाके लिये दोनोंका बराबर बना रहना अनिवार्य तौर पर आवश्यक है।

महर्षिके आगमनसे पहिले इन दोनोंमें इतना भेद कर दिया गया था जितना कि पूर्व और पश्चिममें है। पूर्वके लोग धर्मके ठेकेदार बन बैठे और पश्चिम वालोंने राजनीतिका ठेका ले लिया। परिणाम क्या हुआ ? धर्मके ठेकेदार धर्मका तात्पर्य भूल गये और राजनीतिका ठेका लेनेवाले राजनीतिका अर्थ भूल गये। पूर्वके लोगों ने घरकी चार-दीवारीमें चौकेकी हदके अन्दर भक्ष्याभक्ष्य आदि रूढियोंमें ही धर्म समझ लिया और पश्चिमके लोगोंने दूसरे निर्बल राष्ट्रोंका खून चूसनेमें ही राजनीति समझ ली। राजनीतिके ठेकेदार धर्मके ठेकेदारोंके मालिक बन बैठे। धर्म, धर्म, धर्मका जप करने वालोंको उनका धर्म न बचा सका और दूसरोंके खूनसे अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने वालोंकी राजनीतिने उन्हें संसारका सम्राट् बना दिया। धर्मके मालिक अपने घरके एवं अपने भी मालिक न रहे, किन्तु राजनीतिके मालिक संसारके चक्रवर्ती साम्राज्यके मालिक बन बैठे। धर्म व्यक्ति व मनुष्यकी उन्नतिका कारण है और राजनीति समष्टि (समाज) व राष्ट्र (विश्व) की उन्नतिका कारण है। यदि दोनोंके गिरे हुये समयमें राजनीति (समाज व राष्ट्र) ने धर्म (व्यक्ति) पर विजय प्राप्त कर ली तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है। ऐसे समय जब कि दुनिया 'धर्म और राजनीति' दोनोंका अर्थ भुलाकर बिलकुल गुलाम बन चुकी थी, भगवान कृष्णके वचनोंमें कहे गये प्रकृतिके नियमोंके अनुसार, तब एक ऐसे महापुरुषका प्रगट

होना आवश्यक था जो कि 'राजनीति'के ठेकेदारोंको राजनीति का अर्थ बताकर उन्हें उनकी महत्वकांक्षाकी गुलामीसे छुडा सकता और धर्माभिमानियोंको धर्मका रहस्य बताकर झूठे धर्मकी गुलामीसे उनका उद्धार कर सकता । इस समय प्रागट हुये महापुरुष आदित्य ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द सरस्वती थे । महर्षि दयानन्दके जीवनपर दृष्टि डालना इस निबन्धका विषय नहीं है, किन्तु उनके विचारोंकी व्याख्या करनेके हेतुसे ही यह लिखा गया है। महर्षिके जीवन-चरित्र हिन्दी और अंग्रेजीमें अनेक लिखे जा चुके हैं, जो सज्जन चाहें उनके जीवन-चरित्रका अध्ययन किसी दूसरी पुस्तकसे कर सकते हैं ।

महर्षिके कार्यका रहस्य

धर्मके नामपर जिस समय महा अनर्थ हो रहा था और इसी अनर्थका मारा हुआ भारत जिस समय गुलामीके जालमें बुरी तरह फंस चुका था, उस समय महर्षि दयानन्द कार्यक्षेत्रमें उतरते हैं । बहुत सम्भवतः पाठकोंको मालूम होगा कि महर्षिका जन्म १८२४ ईस्वी सन् में हुआ था । १८५७ में जिस समय स्वतन्त्रताके लिये भारतने अन्तिम बार अपनी जानपर खेल खेला उस समय महर्षि जंगलोंमें 'अमृत'की खोजमें भटक रहे थे । मृत्युसे सदाके लिये छुटकारा पानेकी चिन्तामें महर्षि पागल थे ! सिवाय अपने मोक्षके किसी दूसरेके उद्धारकी शायदही उन्हें चिन्ता होगी । किन्तु जिस समय मथुरामें भटकते हुये जहाजके मुखियाको प्रकाशस्तम्भके दर्शन हुये उस समय उसने 'धर्म'का रहस्य समझा । 'अमृत'की

बटी उसके हाथ लगी। मृत्युसे सहजमें छुटकारा मिल गया। केवल अपनेही नहीं, किन्तु दुनियाभरके उद्धारकी चिन्तामें पागल होकर महर्षिने अपनी आयुका शेष हिस्सा बिताया। 'संसारका उपकार करने'का 'मुख्य उद्देश्य' सम्मुख रखते हुये भी इस उद्देश्यका अर्थ यही किया कि व्यक्तिको 'शारीरिक और आत्मिक' एवं समष्टिकी 'सामाजिक उन्नति करना'। (आर्य-समाजका नियम ६) संसार को व्यक्तिसे और व्यक्तिको समाजसे अलग करके संसारकी उन्नतिका दावा न वे कर सकते थे और न उन्होंने कियाही। इसलिये उनके कार्यका रहस्य यही है कि "व्यक्ति व्यक्तिकी उन्नतिसे समष्टि (समाज)की उन्नति और समष्टि (समाज)की उन्नतिसे विश्व (संसार)की उन्नति हो।" व्यक्तिकी उन्नतिका श्रेष्ठतम राह आश्रम-पद्धति है अर्थात—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासके चारों आश्रमोंका यथायोग्य सेवन। वैदिक धर्मकी एक बड़ी उत्कृष्टता यहभी है कि उसमें व्यक्ति और समाजकी उन्नतिकी उत्कृष्टतम व्यवस्था आश्रमों और वर्णोंद्वारा की गई है। किसी दूसरे सम्प्रदाय, धर्म, मत या पन्थमें ऐसा नियम नहीं है। भारतीय समाज (हिन्दू-समाज)के पतनका श्रीगणेश यही है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था का नियम बिलकुल टूट गया, ब्रह्मचर्यकी पद्धति बिलकुल उठ गई, शिखा रखना, यज्ञोपवीत धारण करना, विवाह करना, अपनेको हिन्दू कहना इत्यादि बातेंभी दूसरी रूढियोंकी तरह एक रूढि होगई। जब ब्राह्मणके घरमें पैदा होनेसेही पण्डित-पद मिलने लगा, तब भला पण्डित बननेके लिये यत्न कौन करने लगा? जब नपुंसक, कायर, पतित भी क्षत्रिय-कुल में

पैदा होनेसे ही क्षत्रिय कहे जाने लगे, तब भला क्षत्रियत्वके सम्पादनके लिये परिश्रमकी क्या आवश्यकता ? ऐसे ही जब लोगोंने ब्रह्मचर्य और गृहस्थकी परिपाटी छोडकर खुले मैदानोंमें गुड्डे गुड्डियोंके खेल खेलने शुरु कर दिये, तब भला आश्रमोंकी व्यवस्था क्या रहती ! वर्णाश्रमकी संकरतासे जब (हिन्दू) समाजके घर घरकी और व्यक्ति व्यक्तिके जीवनकी व्यवस्था अस्त व्यस्त होगयी तब देशका अधःपात क्यों न होता ! इस अधःपतनसे यदि गुलामी का देशमें जाल फैल गया और देशवासी उसमें उलझ गये, तो आश्चर्य क्या है ! ऐसी अवस्थामें महर्षिके लिये सिवाय इसके कोई दूसरा राह ही नहीं था कि वे भारतीय समाजकी अस्त व्यस्त हुई अवस्थाको ठीक करें । लुप्त हुई वर्णाश्रम-पद्धतिको पुनः प्रगट करें । भूले भटके हुये लोगोंके सम्मुख धर्मका सच्चा स्वरूप प्रगट करें और सामयिक, एक-देशीय, एक-कालिक सम्प्रदायों, पन्थों, मतोंके सारासारका विवेचन करें । इसी लिये महर्षिने मण्डन-पुरस्सर खण्डनका कार्य किया । 'सत्यार्थप्रकाश'के पहिले १० समुल्लासोंमें वैदिक मतका मण्डन करते हुये पिछले ४ समुल्लासोंमें दूसरे मत मतान्तरोंका खण्डन किया है । इन चार समुल्लासोंको एक बार भी आद्योपान्त देख लेनेसे मालूम हो सकता है कि महर्षिके खण्डनात्मक कार्यकी तहमें वही भाव विद्यमान हैं, जिन्हें आजकल 'राष्ट्रीय भाव' कहा जाता है ।

महर्षिके इन राष्ट्रीय भावोंको दिखानेसे पहिले हम अपने पाठकोंके साथ उस समयके धर्मकी बिगडी हुई दशापर थोडासा और विचार करना चाहते हैं, जिस समय 'धर्म'के नामपर खून

की नदियां बहाई जाती थीं। 'धर्म' नामपर ही मनुष्य मनुष्यका दुश्मन हुआ बैठा था। परम-पिता परमात्माके अनेक नामोंमेंसे एक एक नाम लेकर अनेक सम्प्रदाय चल पड़े थे और प्रत्येक सम्प्रदाय के पुरोहित दूकानदारोंकी तरह अपने मालकी प्रशंसा और दूसरेकी निन्दामें ही अपनी पेट-पूजाका मतलब पूरा किया करते थे। युरोप के पोपने युरोपकी उन्नतिके मार्गपर और यहांके धर्माधिकारियोंने यहांकी उन्नतिके राहपर 'आम रास्ता नहीं' के बोर्ड लगाये हुये थे। युरोपके नरेश वहांके पोपके और यहांके नरेश यहांके पोपोंके गुलाम बने बैठे थे। उनका खाना, पीना, सोना, उठना तक इन पोपोंके हाथोंमें था। देशपर दुश्मनकी फौजोंके आ चढ़नेपर भी इन पोपोंकी आज्ञाके बिना क्षत्रियोंका तलवार उठाना बन्द था। सोमनाथके मन्दिरकी चढ़ाईमें महमूद गजनवीकी सेनाओंके दांत खट्टे करने वाले धीर वीर राजपूतोंकी सेनायें इन पोपोंकी आज्ञा न होनेसे ही नपुंसकोंकी तरह कट मर गईं, सोमनाथका मन्दिर लुट गया और देशके गलेमें गुलामीका तौक पड़ गया। न केवल भारत किन्तु एशिया और युरोपके सभी देशोंकी यही अवस्था थी। सब देशोंकी यह अवस्था होनेपर भी भारतकी दुरवस्थाका चित्र निरालाही था। तेतीस करोड़ देवी देवताओंके नामपर तेतीस करोड़ नहीं तो कमसे कम (महर्षिके लेखानुसार) एक सहस्रसे अधिक मत-मतान्तर (देखिये उत्तरार्धकी अनुभूमिका) इस देशमें अवश्य फैल चुके थे। परस्परके हठ, दुराग्रह, विरोध, द्वेष, ईर्ष्या और स्पर्धा से देशकी एकता बिलकुल छिन्न भिन्न हो चुकी थी। जैनियोंके विषयमें दूसरे मत-वालोंने अपने चेलोंको शिक्षा दी हुई थी कि "हस्तिना

ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" अर्थात हाथीके पैरसे कुचले जानेके समयभी यदि जैन-मन्दिरमें घुसनेसे जान बचती हो तो भी उस मन्दिरमें न जाय। इधर जैनियोंने अपने चेलोंको शिक्षा दी कि "गंगादि तीर्थ और काशी आदि क्षेत्रोंके सेवनेसे कुछभी परमार्थ सिद्ध नहीं होता और अपने गिरनार, पालीटाना और आबू आदि तीर्थ-क्षेत्र मुक्ति पर्यन्तके देनेवाले हैं।" (देखिये 'विवेकसार' पृष्ठ ५५) 'शिव, विष्णु आदिकी मूर्तियोंकी पूजा करनी बहुत बुरी है अर्थात नरक का साधन है।' (वि० सा० पृष्ठ २२५) इसी लिये महर्षिने लिखा है कि "नाना प्रकार विरुद्ध स्वरूप, नाम, चरित्र-युक्त मूर्त्तियोंके पुजारियोंका ऐक्यमत नष्ट होके विरुद्ध मतमें चलकर आपसमें फूट बढाके देशका नाश करते हैं।' (स० प्र० ११।३३१) पुराणोंकी समीक्षा करते हुए महर्षिने बहुत अच्छी तरह प्रकट किया है कि किस प्रकार अनेक मत-मतान्तरोंके कारण परस्पर विरोध फैला। शिव-पुराणमें शैवोंने शिवको परमेश्वर मानके विष्णु, ब्रह्मा इन्द्र, गणेश और सूर्यादिको उनका दास ठहराया। वैष्णवोंने विष्णु-पुराण आदिमें विष्णुको परमात्मा माना और शिव आदिको विष्णुके दास। देवीभागवतमें देवीको परमेश्वरी और शिव, विष्णु आदिको उसके किंकर बनाया। गणेशखण्डमें गणेशको ईश्वर और शेष सबको दास बनाया। शिव-पुराणवाले शिवसे, विष्णु-पुराणवाले विष्णुसे, देवी-पुराण-वाले देवीसे, गणेशखण्डवाले गणेशसे, सूर्य-पुराणवाले सूर्यसे और वायु-पुराणवाले वायुसे सृष्टिकी उत्पत्ति और उसीसे प्रलय मानते हैं। अब सोचिये इन सबमें परस्पर एकमत, एकता, मेल-मिलाप या सद्भाव होगा कि परस्पर द्वेष, ईर्ष्या, विरोध, मतभेद और लडाई

झगडा ? जब कि परस्पर एक दूसरेके परमात्माको अपने परमात्माका दास कहें, अपने परमात्माको सृष्टिका कर्ता, धर्ता और हर्ता बतायें और दूसरेके परमात्माको उसकी सन्तान, तो क्यों न परस्पर ईर्ष्या और द्वेष हों ? क्यों न परस्पर विरुद्ध मत फैल कर, देशका आपस की फूटसे सत्यानाश हो और क्यों न देश पराधीनता या गुलामीके नरक-कुण्डमें गारत हो ? जब कि धर्मके कारण ही भारतीय लोग छोटे छोटे समूहोंमें बंट कर, "जैसे झूठे दुकानदार वा वेश्या और भडुवा आदि अपनी अपनी वस्तुकी बडाई दूसरेकी बुराई करते हैं वैसे," (स० प्र० ११।४०५) ही परस्पर एक दूसरेसे घृणा, द्वेष और विरोधका व्यवहार करते थे, तब सबको एकमतमें लानेके लिये धर्मके सत्य स्वरूपकी प्रतिष्ठा करनी अत्यन्त आवश्यक थी। महर्षि का यही महत्वका कार्य है कि उन्होंने धर्मके असली स्वरूपको प्रगट किया। इस स्वरूपको प्रगट करनेके लियेही आवश्यक था कि उस समयके प्रचलित नाना मत-मतान्तरोंके सत्यासत्यका विवेचन किया जाता। सच और झूठको कसौटीपर कसकर सबके सन्मुख उपस्थित किया जाता। महर्षिने स्थान स्थानपर स्वयं भी लिखा है कि "मेरा कोई नवीन कल्पना या मत-मतान्तर चलानेका लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोडना और छुडवाना मुझको अभीष्ट है।" वस्तुतः महर्षिने कुछ नयी कल्पना भी नहीं की है। आर्य, आर्यावर्त, वेद, वैदिक आदि सब सत्य सनातन और पुरातन संस्कृत शब्दोंकाही व्यवहार किया है। आर्यसमाजके नियमोंमें भी कुछ नवीन कल्पना नहीं की है, किन्तु त्रैकालिक सत्य सनातन

नियमोंकाही संग्रह किया है। खण्डनात्मक समुल्लासोंमें स्थान स्थानपर अपना अभिप्राय यही दिया है कि 'यह लेख केवल सत्यकी वृद्धि और असत्यके ह्रास होनेके लिये है, न कि किसीको दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगानेके अर्थ।' (अनुभूमिका ३)

राष्ट्रीय कसौटीपर मत-मतान्तरकी परीक्षा

मतमतान्तर सम्बन्धी अपने विचारोंको महर्षिने एक वाक्यमें इस प्रकार लिखा है कि "यदि ऐसे ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्यावर्त देशकी दुर्दशा क्यों होती ?" (स० प्र० २१-३८२) देश-वासियोंको वेदादि सत्य शास्त्रोंके आदेश व उपदेशके विमुख चलते हुये देखकर महर्षिकी आत्माको जितना दुःख पहुंचता था, उससे कहीं अधिक दुःख उन्हें देशकी दुर्दशा देखकर होता था। मूर्तिपूजा का खण्डन महर्षिने जहां वेदादि सत्य शास्त्रोंकी कसौटीसे किया है, वहां 'राष्ट्रीय भावना'की कसौटीपर भी महर्षिने मूर्तिपूजाकी परख की है। मूर्तिपूजाके खण्डनात्मक प्रकरणमें महर्षिने सोलह कारण मूर्तिपूजाके खण्डनमें दिये हैं। इनमें अधिकतर कारण राष्ट्रीय भावना-प्रधान हैं। पांचवें कारणमें महर्षिने मूर्तिपूजाको विरुद्ध मत की फैलाने वाली बताया है। आपने लिखा है कि "नाना प्रकारकी विरुद्ध स्वरूप-नाम-चरित्र-युक्त मूर्तियोंके पुजारियोंका ऐक्यमत नष्ट होके विरुद्ध मतमें चलकर आपसमें फूट बढाके देशका नाश करते हैं।" (स० प्र० ११-३३१) छठा कारण महर्षिने लिखा है कि मूर्तिके "भरोसे शत्रुका पराजय और अपना विजय मानकर बैठे रहते हैं, उनका पराजय होकर राज्य स्वातंत्र्य और धनका सुख

उनके शत्रुओंके स्वाधीन होता है और आप पराधीन भठियारेके टट्टू और कुम्हारके गदहेके समान शत्रुओंके वशमें होकर अनेक-विध दुःख पाते हैं।" (स० प्र० ११-३३१) मुसलमानी कालसे अबतकका इतिहास इन लोगोंकी ऐसी मूर्खताके उदाहरणोंसे भरा पड़ा है। दुश्मनने गौओंकी पंक्ति सेनाके सम्मुख लाकर खड़ी कर दी और वीर राजपूत क्षत्रियोंके हथियार हाथके हाथमें रह गये। गौ-माताके साथ साथ देशका भी सत्यानाश हो गया। महर्षिने 'सत्यार्थ-प्रकाश'के पृष्ठ ३४०पर द्वारिकाजीके रणछोडजीकी मूर्तिके विषयमें लिखा है कि "सम्वत् १९१४ के वर्षमें तोपोंके मारे मन्दिर मूर्तियां अंगरेजोंने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति कहां गई थी, प्रत्युत वाघेर लोगोंने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओंको मारा परन्तु मूर्ति एक मक्खीकी टांगभी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्णके सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाय, उसके शरणागत क्यों न पीटे जायं ?" पृष्ठ ३३८ और ३३९ में सोमनाथ मन्दिरकी लूटके समयका हृदय-द्रावक दृश्य और हम लोगोंकी महामूर्खताका चित्र खींचते हुये महर्षिने बड़ेही दुःखसे लिखा है कि "क्यों पत्थरकी पूजा कर सत्यानाशको प्राप्त हुये ? क्यों परमेश्वरकी भक्ति न की, जो म्लेच्छोंके दांत तोड़ डालते और अपना विजय करते ? देखो ! जितनी मूर्तियां हैं उनके स्थानमें शूरवीरोंकी पूजा करते तो भी कितनी रक्षा होती ! पुजारियोंने इन पाषाणोंकी इतनी भक्ति की परन्तु मूर्ति एक भी उन शत्रुओंके सिरपर उड़के न लगी। जो

किसी एक शूरवीर पुरुषकी मूर्तिके सदृश सेवा करते तो वह अपने सेवकोंको यथाशक्ति बचाता और उन शत्रुओंको मारता।" (स० प्र० ११।३३०.) इस प्रकार इन राष्ट्रीय भावोंसे मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुये महर्षिने नैतिक (Moral) आर्थिक (Economic) और उपयोगिता (Utility) की कसौटीपरभी मूर्तिपूजाको कसा है। महर्षिने मूर्तिपूजा-समीक्षाके प्रकरणमें ही लिखा है कि मूर्ति और मन्दिरों एवं मूर्तिपूजनमें "करोडों रुपये व्यय करके लोग दरिद्र होते हैं और उसमें प्रमाद होता है। स्त्री-पुरुषोंका मन्दिरोंमें मेला होनेसे व्यभिचार, लडाई, बखेडा और रोगादि उत्पन्न होते हैं। उसीको धर्म, अर्थ, काम और मुक्तिका साधन मानके पुरुषार्थ-रहित होकर मनुष्य-जन्म व्यर्थ गमाते हैं। भ्रान्त मन्दिर मन्दिर देश-देशान्तरमें घूमते २ दुःख पाते; धर्म, संसार और परमार्थका काम नष्ट करते, चोर आदि से पीडित होते, ठगोंसे ठगाते रहते हैं। दुष्ट पुजारियोंको धन देते हैं, वे उस धनको वेश्या, पर-स्त्रीगमन, मद्य-मांसाहार, लडाई बखेडोंमें व्यय करते हैं।" (स० प्र० ११।३३१) यह भाव हैं जिनसे प्रेरित होकर महर्षि ने मूर्तिपूजाका खण्डन किया है। इसी प्रकार ब्राह्म-समाज और और प्रार्थना-समाजकी समीक्षाके प्रकरण (स० प्र० ११।३९७-४०३) में महर्षिने उक्त समाजोंको भी देशभक्ति व राष्ट्रीय भावनाकी कसौटी पर कसा है। उक्त समाजोंके उपकार महर्षिने स्वीकार किये हैं कि देशमें फैलती हुई ईसाई मतकी लहरको इन समाजोंने कुछ दबाया है, उसमें फंसते हुये कुछ लोगोंको बचाया है। कुछ कुछ पाषाणादिकी मूर्तिपूजाको हटाया है। अन्य

जाल ग्रन्थोंके फन्देसे भी कुछ कुछ बचाया है। इन उपकारोंको मानते हुये पहिलाही दोष यह दिखाया है कि "इन लोगोंमें स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है, ईसाइयोंके आचरण बहुतसे लिये हैं, खान पान विवाह आदिके नियम भी बदल दिये हैं।" दूसरा दोष बताया है कि "अपने देशकी प्रशंसा व पूर्वजोंकी बडाई करनी तो दूर रही, उसके स्थानमें पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंगरेजोंकी प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियोंका नाम भी नहीं लेते, प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंगरेजोंके सृष्टिमें आज पर्यन्त कोई विद्वान नहीं हुआ। आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं, इनकी उन्नति कभी नहीं हुई।" इसके बाद महर्षिने लिखा है कि "वेदादिकोंकी प्रतिष्ठा तो दूर रही परन्तु निन्दा करनेसे भी पृथक नहीं रहते। ब्राह्मसमाजके उद्देशके पुस्तकमें साधुओं की संख्यामें 'ईसा' 'मूसा' 'मुहम्मद' 'नानक' 'चैतन्य' लिखे हैं, किसी ऋषि महर्षिका नाम भी नहीं लिखा। इससे जाना जाता है कि इन लोगोंने जिनका नाम लिखा है, उन्हींके मतानुसारी मत वाले हैं।" इससे अगले शब्द महर्षिकी उत्कृष्ट देशभक्तिके द्योतक हैं। वे लिखते हैं कि "भला जब आर्यावर्तमें उत्पन्न हुये हैं और इसी देशका अन्न जल खाया पिया, अब भी खाते पीते हैं, तब अपने माता, पिता, पितामहादिके मार्गको छोड दूसरे विदेशी मतोंपर अधिक झुक जाना, ब्रह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियोंका एतद्देशस्थ संस्कृत विद्यासे रहित अपनेको विद्वान प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढके पण्डिताभिमानी होकर झटिति एकमत चलानेमें प्रवृत्त होना मनुष्योंका स्थिर और

वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है ? अंगरेज, यवन, अन्त्य-जादिसे भी खाने पीनेका भेद नहीं रक्खा, इन्होंने यही समझा होगा कि खाने पीने और जातिभेद तोड़नेसे हम और हमारा देश सुधर जायगा, परन्तु ऐसी बातोंसे सुधार तो कहां है, उलटा बिगाड़ होता है"। उक्त समाजोंका खण्डन जहां महर्षिके उज्वल देशप्रेमको प्रगट करता है, वहां महर्षिका अपने देशकी भाषासे प्रेम, अपने देशके पूर्वज ऋषि मुनियोंकी प्रतिष्ठा, अपने देशके खान पान आदिसे प्रेमको भी प्रगट करता है। वस्तुतः इसी उज्वल देशप्रेमकी उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावनासे प्रेरित होकर ही महर्षिको खण्डनात्मक कार्य करना पड़ा। महर्षि दयानन्दको भारतकाही नहीं किन्तु एशिया या संसारभरका 'लूथर' समझना चाहिए। रोमके पोपके चंगुलसे युरोपके लोगों व राष्ट्रोंको जैसे लूथरने मुक्ति दिलाई, वैसेही महर्षिने भारतीयोंको यहांके पोपोंकी गुलामीसे छुटकारा दिलाया और संसारभरके उपकारका उच्चतम आदर्श सम्मुख रखते हुये आर्यसमाजकी स्थापना की। 'सत्यार्थप्रकाश'के कुछ उद्धरण ऊपर देकर सूत्ररूपमें दिग्दर्शन मात्र करानेका हमने यत्न किया है। विशेष रूपमें जाननेके लिये तो महर्षिके ग्रन्थोंको ही आद्योपान्त देखना आवश्यक है।'सत्यार्थप्रकाश'का प्रत्येक समुल्लास और 'आर्याभिविनय'के प्रत्येक मन्त्रकी व्याख्यामें महर्षिकी राष्ट्रीय भावना कूट कूट कर भरी हुई है। हमें आशा है जिज्ञासु लोग महर्षिके महान् आशय, गम्भीर विचार, उज्वल देशभक्ति और उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावनाका परिचय हासिल करनेके लिये महर्षिके किसी न किसी मूल लेखका स्वाध्याय करनेका यत्न अवश्य करेंगे।

'विषय-प्रवेश'के तौरपर इतना ही लिखना पर्याप्त होगा। इसके बाद महर्षि दयानन्दके महान् स्वरूपके दर्शनोंके लिये उनके कुछ विचारोंका सिलसिलेवार खुलासा करना आवश्यक है। आइये, पाठक, भारतकी राष्ट्रीय जागृतिके पितामह दयानन्दके स्वरूपको समझनेके लिये उनके विचारोंका कुछ अध्ययन करें।

(२)

पहिले भागमें विवेचनात्मक दृष्टिसे लिखते हुये महर्षिके महान आशय, गंभीर विचार, उज्वल देशभक्ति और उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावनाका परिचय देनेका यत्न किया गया है। इस भागमें इन्हीं सब विषयोंका खुलासा महर्षिके अपने लेखकी साक्षियोंसे किया जायगा। अपनी ओरसे कुछ भी विशेष न लिखते हुये केवल महर्षिके लेखोंसे ही कुछ उद्धरण दे देने पर्याप्त होंगे। उन्हींसे पाठक बहुत कुछ जान सकेंगे। नवीन भारतकी जागृतिका बहुत बड़ा श्रेय महर्षिको है। निःसन्देह, किसी भी लेखकके प्रति यह भारी अन्याय है कि उसके लेखके कुछ ही वाक्यों या शब्दोंको लेकर खींचातानी की जाय और अपने मतलबके लिये उनका प्रयोग किया जाय, किन्तु इन पंक्तियोंका लेखक अपने आचार्यके प्रति यह

अन्याय करनेका दु:साहस कर ही नहीं सकता और न उसे इसकी कुछ आवश्यकताही है। उसने ढके हुये चित्रके ऊपरसे केवल परदा उठाना है। जानेमें या अनजानेमें उपेक्षा किये गये एक विषय की ओर अपने आर्य भाइयोंका ध्यान आकर्षित करना है। सम्भव है कि कुछ भाई इस लेखककी विचार-सरणसे सहमत न हों। सहमत होना या न होना, यह एक साधारण विषय है, किन्तु महर्षिके लेखोंकी खींचातानीका लांछन उसपर लगाना निःसंदेह उसके प्रति अन्याय होगा। यह लेख जिस श्रद्धा और भक्ति से लिखा गया है, आशा और विश्वास है कि, उसी से इसे देखा और पढा जायगा। अस्तु, आइये, अब महर्षिके राजनीतिक स्वरूपके चित्रको देखें और उनके राजनीतिक विचारोंको समझकर अपने जीवनको उनके अनुसार बनानेका व्यावहारिक यत्न करें।

महर्षिकी देशभक्ति

देशभक्त दयानन्दकी देशभक्ति और स्वदेश-प्रेमके भाव, सम्भव नहीं कि उनके निम्न शब्दोंसे अधिक उज्वल किन्हीं और शब्दोंमें प्रगट किये जा सकें। वे लिखते हैं कि "यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोलमें दूसरा कोई देश नहीं है। इसी लिये इस भूमिका नाम स्वर्णभूमि है। क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नोंको उत्पन्न करती है।" "जितने भूगोलमें देश हैं वे सब इसी देशकी प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि पारस-मणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है परन्तु आर्यावर्त देशही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे-रूप दारिद्र विदेशी छूतेके साथही सुवर्ण अर्थात धनाढ्य

हो जाते हैं।" (स० प्र० ११।२८७) कैसा उज्वल देशप्रेम और देशभक्ति है! इन पंक्तियोंके साथ देशभक्तिके नशेमें लिखी गई कवितामय पंक्तियां पढ जाइये, लम्बे लम्बे स्तोत्रपाठ देख जाइये और मोटे मोटे पोथोंमेंसे होजाइये, पर देशप्रेमका ऐसा मिठास और देशभक्तिकी ऐसी श्रद्धा बहुत कम मिलेगी। इसीके साथ खण्डनात्मक समुल्लासोंके उन हिस्सोंको देखिये जिनमें उन्होंने देशप्रेमकी कसौटीपरही दूसरे सम्प्रदायोंको परख की है। ब्राह्म-समाजियों और प्रार्थना-समाजियोंके लिये बडे दुःखसे लिखा है कि " इन लोगोंमें स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है।" " भला जब आर्यावर्त देशमें उत्पन्न हुये हैं और इसी देशका अन्न जल खाया पिया, अब भी खाते पीते हैं, अपने माता पिता पितामहादिके मार्गको छोड दूसरे विदेशी मतोंपर अधिक झुक जाना और एतद्देशस्थ संस्कृत विद्यासे रहित अपनेको विद्वान प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढके पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलानेमें प्रवृत्त होना मनुष्योंका स्थिर और वृद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है" ? (स० प्र० ११।३९७–३९८) इससे न केवल देशभक्ति ही प्रगट होती है किन्तु अपने देशकी भाषा और अपने देशके मतसे प्रेम भी प्रगट होता है। इसी प्रकार मूर्तिपूजाके खण्डनके प्रकरणमें भी महर्षिकी देशभक्तिका स्पष्ट परिचय मिलता है। महर्षिने लिखा है कि ' नाना प्रकारकी विरुद्ध स्वरूप व चरित्रकी मूर्तियां बनाकर विरुद्ध मतमें चलकर आपसमें फूट बढाके देशका नाश करते हैं। 'उसी (मूर्ति) के भरोसेमें..................बैठे रहते हैं; उनका पराजय होकर राज्य स्वातंत्र्य और धनका सुख उनके

शत्रुओंके स्वाधीन होता है और आप पराधीन·······होकर अनेक विध दुःख पाते हैं।" (स० प्र० ११।३३१) सारे खण्डनात्मक प्रकरणमें भाव उज्वल रूपमें दीख पडते हैं। सोमनाथके मन्दिरके लूटे जानेका वर्णन और द्वारिकाजीके रणछोडजीके मन्दिरोंके उजाडे जानेका वर्णन 'सत्यार्थप्रकाश'के ग्यारहवें समुल्लास के पृष्ठ ३३८ से ३४० तक में पढिये, फिर देखिये महर्षिका मन देशप्रेम और देशभक्तिके भावोंमें कैसा ओत-प्रोत था! अस्तु।

महर्षिकी राजनीति

राजनीतिज्ञ महर्षिके देश-प्रेम और देशभक्तिके भाव, केवल देशकी महिमा और दूसरोंमें देशभक्तिकी कमी दिखाने तक ही सीमित न थे, किन्तु ये दोनों गुण राजनीतिके व्यावहारिक सिद्धांतोंमें भी परिणत हो चुके थे। स्वदेशमें विदेशी राज्यकी सत्ता उनके लिये असम्भव थी। अपने देशको विदेशी लुटेरोंसे लुटते देखना उनके लिये असम्भव था। वे अपने देशवासियोंके दारिद्र्य, दुःख और अभाग्योदयको देखकर बराबर तडफडाया करते थे। स्वदेशकी उन्नतिकी चिन्तामें रात दिन व्यग्र रहते थे। उन्होंने बडे ही दुःख से लिखा है कि "विदेशियोंके आर्यावर्त्तमें राज्य होनेका कारण आपसकी फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्यका सेवन न करना, विद्या न पढना पढाना, वा बाल्यावस्थामें अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेद विद्याका अप्रचार आदि कुकर्म्म हैं। जब आपसमें भाई भाई लडते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।"·········"आपसकी फूटसे कौरव, पाण्डव और यादवोंका

सत्यानाश होगया सो तो हो गया, परन्तु अबतक भी वही रोग पीछे लगा है ! न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्योंको सब सुखोंसे छुड़ाकर दुःखसागरमें डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट, गोत्रहत्यारे, स्वदेशविनाशक, नीचके दुष्ट मार्गमें आर्य लोग अबतक भी चलकर दुःख बढा रहे हैं । परमात्मा कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्योंमें से नष्ट हो जाय ।" इसी प्रसंगमें वे लिखते हैं कि "जब तक एकमन एक हानि लाभ एक सुख दुःख परस्पर न मानें तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है।" (स० प्र० १०।२८०) अन्यत्र विदेश-यात्राके प्रसंगमें वे लिखते हैं कि "क्या बिना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तरमें राज्य व व्यापार किये स्वदेशकी उन्नति कभी हो सकती है ? जब स्वदेशही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेशमें व्यवहार वा राज्य करें तो बिना दुःख और दारिद्र्यके दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता ।" आचारानाचारपर लिखते हुये वे लिखते हैं कि "इसी मूढतासे इन लोगोंने चौका लगाते लगाते विरोध करते कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थपर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं ।" (स० प्र० १०।२७८) गौ आदि पशुओं की रक्षाके प्रसंगमें उन्होंने लिखा है कि "देखो ! जब आर्योंका राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे । तभी आर्यावर्त्त व अन्य भूगोल देशोंमें बड़े आनन्दमें मनुष्यादि प्राणी वर्त्तते थे, क्योंकि दूध, घी और बैल आदि पशुओंकी बहुताई होनेसे अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे । जबसे विदेशी मांसाहारी इस देशमें आके गौ आदि पशुओंके

मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुये हैं तबसे क्रमशः आर्यों के दुःखकी बढती होती जाती है।" (स० प्र० १०।२८२) इन पंक्तियोंके पढनेसे महर्षिके देशप्रेम और देशभक्तिके भावोंकी गहराई जान पडती है। विदेशियोंका आर्यावर्तमें राज्य होनेके कारण, उसके बुरे फल दुःख व दारिद्र्य एवं उनके प्रतिकारका उपाय अपने देशमें अपना राज्य व व्यापार ही नहीं, किन्तु दूसरे द्वीप-द्वीपान्तरों व देश-देशान्तरोंमें भी अपना राज्य व व्यापार होना वे बताते हैं। इस समयके गान्धी-युगमें शायद विदेशोंमें अपने देशके राज्य व्यापारकी बातका समर्थन न किया जाय, किन्तु महर्षिने तो इस बातका स्पष्ट समर्थन किया है। आपसकी फूटके लिये कितने दुःख-पूर्ण शब्दोंमें दुर्योधनको 'स्वदेश-विनाशक' लिखते हुये देशवासियोंके इस 'राजरोग'के नाशके लिये प्रार्थना की है। महर्षिके स्वराज्य, साम्राज्य, चक्रवर्ती राज्य और राष्ट्रसंघकी कल्पनाको दिखानेसे पहिले महर्षिके कुछ राजनीतिक सिद्धान्तोंका उल्लेख करना अच्छा रहेगा।

महर्षिके कुछ राजनीतिक सिद्धान्त

वैसे तो महर्षिका प्रमुख ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा ही कुछ इस ढंगसे गया है कि मनुष्य, समाज और राष्ट्रके सुधार, उद्धार और उत्कर्षकी कोई ऐसी बात नहीं, जिसपर उसमें प्रकाश नहीं डाला गया है। मण्डनके पहिले दस समुल्लास तो मनुष्यके जन्मसे लेकर आयु-पर्यन्तके लिये मार्गप्रदर्शक हो सकते हैं। गर्भाधानसे लेकर शिक्षा, विद्याभ्यास, फिर गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासके कर्तव्य कर्म और धर्मकी पूरी व्याख्या उसी क्रमसे और उसी ढंगपर की

गई है जिस क्रमसे और जिस ढंगपर उनपर आचरण किया जाना चाहिये। जब कि 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा ही इस व्याप्त दृष्टिसे गया है तब उसमें 'राजनीति'का समावेश न होना ऐसी भारी कमी रहती, जिससे उसका महत्व बहुत कुछ कम हो जाता। महर्षिने जिस प्रकार मनुष्यकी वैयक्तिक उन्नतिके लिये शिक्षा, विद्याभ्यास, गृहस्थ आदिपर अलग अलग समुल्लास लिखे हैं, इसी प्रकार राष्ट्रकी सामूहिक उन्नतिके लिये राजधर्म (राजनीति) पर भी एक (छठा) समुल्लास अलग ही लिखा है। इसीमें उन्होंने अपने राजनीतिक सिद्धान्तोंका उल्लेख किया है। यहां यह निर्देशमात्रमें लिखना अप्रासंगिक न होगा कि महर्षिने अपनी शिक्षा-प्रणालीमें राजनीतिकी शिक्षाको भी उतना ही स्थान दिया है, जितना कि चारों वेदोंके अध्ययनको। बात यह है कि महर्षिकी राजनीति (राजधर्म) वेद वेदांगों (धनुर्वेद)के अन्तर्गत होनेसे ज्ञान या धर्मका ही एक अंग है; कुछ अलग नहीं। उनके समस्त राजनीतिक सिद्धान्तोंके लिये छठे समुल्लासकी पूरी नकल करना भी अपर्याप्त है; सुगमताके लिये उनके निम्न लिखित कुछ सिद्धान्त ले लिये गये हैं; (१) अकेला राजाही नहीं, (२) तीन सभाओं और मंत्रिमण्डल आदि द्वारा शासन-कार्य हो, (३) प्रजाही राजाकी नियुक्ति करे, (४) राजा भी दण्डनीय है, (५) स्वराज्यही सर्वोत्तम राज्य है, (६) साम्राज्य व चक्रवर्ती राज्य और (७) राष्ट्रसंघकी कल्पना। इनपर स्वामीजीके विचार देखनेसे मालूम होगा कि वे राजनीतिके मर्मको आजकलके इतिहास व राजनीतिके विद्वानों व उपाध्यायोंसे कहीं अधिक जानते थे। आक्स-

फोर्ड और केम्ब्रिजसे राजनीतिके ज्ञानकी सनद लानेवाले यह जान-कर आश्चर्य करेंगे कि महर्षि दयानन्दका राजनीति-ज्ञान केवल अपने प्राचीन ग्रन्थोंकेही आधारपर था। वे अंगरेजी भाषाका 'काला अक्षर भैंस बराबर' भी न जानते थे और न उनको इस बातमें विश्वास ही था कि वे अंगरेजी पढ़कर कुछ अधिक जान लेंगे। वे अन्दर और बाहिरमें बिलकुल स्वदेशी ही थे। उनका रहन-सहन, उनकी बोल-चाल, उनकी भाषा, उनके विचार, भाव, उनकी विद्वत्ता, उनका ज्ञान आदि सब कुछ शुद्ध स्वदेशी ही था। न वे कभी अपने देशसे बाहिर गये और न उन्होंने किसी विदेशीसे कुछ सीखाही। यह सब ध्यानमें रखते हुए, फिर उनके राजनीतिक विचारों और राज-नीतिक सिद्धान्तोंको देखना चाहिए, तब उनका महत्व महर्षि दया-नन्दके सम्बन्धमें विशेष रूपसे जाना जा सकता है। उक्त सिद्धा-न्तोंमेंसे अब प्रत्येकपर अलग अलग विचार करते हैं।

१. अकेला राजाही नहीं

वर्तमान युग प्रजातन्त्र राज्यप्रणालीका युग कहा जाता है। युरोपियन महासंग्रामके बाद कुछ ऐसी हवा चली कि चारों ओर स्वराज्य और प्रजातन्त्र राज्यकी मांग होने लगी। युरोपके प्रायः सभी राजतन्त्र राज्योंकी काया पलट गई। रूसका क्रूर जार गद्दीसे उतारकर कैद किया गया और फिर मार दिया गया। जर्मनीका महान शक्तिशाली बादशाह कैसर भी राजगद्दी छोड़कर अलग होगया। आस्ट्रिया हंगरीका राजा मारा मारा भागता फिरा। यूनानके राजाकी भी बुरी हालत हुई। यह सब बीसवीं सदीके पहिले चरणके

अन्तिम दिनोंकी घटनायें हैं। किन्तु महर्षिने उन्नीसवीं सदीके तीसरे चरणमें इस सिद्धान्तका उल्लेख करते हुये स्पष्टही लिखा है कि "एक को स्वतन्त्र राज्यका अधिकार न देना चाहिये।" इसी प्रसंगमें वे लिखते हैं कि "किसी एकको राज्यमें स्वाधीन न करना चाहिये। जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्ट पुष्ट पशुको मारकर खा लेते हैं, वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजाका नाश करता है।" यह राजा भी स्वामीजी की दृष्टिमें राजा नहीं है किन्तु राजसभाका केवल सभापति है। सभापतिकोही राजाका नाम दिया गया है। (स० प्र० ६।१४२) अन्यत्र (स० प्र० ६।१५०) मनुस्मृतिका एक श्लोक देते हुये वे लिखते हैं कि "विशेष सहायके बिना जो सुगम कर्म है वह भी एक के करनेमें कठिन हो जाता है, जब ऐसा है तो महान राज्य-कर्म एक कैसे कर सकता है?" इस प्रकार अकेले राजाको साराही राज्यकार्य सौंप देनेके महर्षि विरुद्ध हैं। वे इसे राष्ट्रके लिये घातक समझते हैं। राजा भी वंशपरम्परागत नहीं किन्तु प्रजा द्वारा नियुक्त सभाका सभापति-मात्र है। राजाकी सभाओं और उसके मन्त्रिमण्डलके विषयमें उनके विचार देखिये।

२. तीन सभायें और मन्त्रि-मण्डल

वैदिक राज्यपद्धतिमें संन्यासियों और विद्वान् ब्राह्मण महात्माओंका बड़ा आदर किया गया है, क्योंकि वैदिक राज्यपद्धतिका आधार वह मनुष्य समाज है जिसमें वर्णाश्रम-व्यवस्थाका पूरा व्यवहार है। वर्णोंमें ब्राह्मणको ज्ञान, विद्या और तप द्वारा राष्ट्रकी सेवा का कार्य सौंपा गया है। राजाको भी यही आज्ञा है कि वह वेदादि-

शास्त्रोंमें पारंगत ब्राह्मणों व उनकी सभा आदिके आधीन अपनेको समझकर प्रत्येक बातमें उनके साथ सलाह मशवरा (मन्त्रणा) करके ही राज्यका कार्य चलाये । महर्षिने भी अपने प्राचीन शास्त्रों के इसी मतका प्रतिपादन किया है । वेदका आदेश ही यह है कि "राजा तथा राजपुरुषो ! तुम और हम विद्वान पजाको (बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये-ऋग्वेद ५।६६।६) उसी स्वराज्यके लिये यत्न करना चाहिये जो बहुत पैरों वाला है, अर्थात जिसका शासन कार्य अनेक लोग मिलकर करते हैं, अकेला राजा ही नहीं करता है ।" इसीलिये महर्षिने ऋग्वेदके ३।३८।६ मन्त्रको देते हुये लिखा है कि 'राजा और प्रजाके पुरुष मिलके सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा प्रजाके सम्बन्धरूप व्यवहारमें (त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि) तीन सभा अर्थात विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा नियत करके बहुत प्रकारके समग्र प्रजासम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियोंको सब ओरसे विद्या स्वातन्त्र्य धर्म, सुशिक्षा धनादिसे अलंकृत करें ।' "उस राजधर्मको तीनों सभा मिलकर पालन करें ।" (स० प्र० ६।१४१।१४२) स्पष्ट है कि राज्यका शासन इस प्रकार होना चाहिये कि प्रजाको हर प्रकारका सुख, धन, शिक्षा आदि तो प्राप्त हों ही, किन्तु इन सबसे बढकर उसे स्वातन्त्र्य प्राप्त हो अर्थात वह अपनेको बिलकुल स्वाधीन अनुभव करे, पराधीन कभी नहीं ।

इन सभाओं और राजाके पारस्परिक सम्बन्धके विषयमें महर्षि लिखते हैं कि " राजा जो सभापति है, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजाके आधीन और प्रजा राजसभाके

आधीन रहे। यदि ऐसा न करोगे तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद् राष्ट्री विशं घातुकः) प्रजासे स्वतन्त्र, स्वाधीन राजवर्ग राज्यमें प्रवेश करके प्रजाका नाश किया करेंगे। अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके प्रजाका नाशक होता है अर्थात वह राजा प्रजाको खाय जाता है!" (स० प्र० ६।१४२) इंगलैण्डका शासन उस समयके पार्लियामेण्टरी शासनोंमें बहुत अंशोंमें सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है, किन्तु उसके शासन-सिद्धान्त भी महर्षिके सिद्धान्तोंके सामने फीके पड जाते हैं। महर्षिकी राज्यपद्धतिमें राजा, राजसभा और प्रजा तीनों परस्पर एक दूसरेके आधीन इस प्रकार हैं कि कोई किसीसे अलग या स्वतन्त्र नहीं रह सकता है। राजापर सभाका, सभापर राजाका, दोनोंपर प्रजाका और प्रजापर राजसभाका इस प्रकार कठोर अंकुश रखा गया है कि कोईभी स्वेछाचार या बलात्कार न करने पावे। उक्त तीन सभायें तो शासक-सभायें (Executives) हैं, व्यवस्थापक-सभाओं (Legislatives) के विषयमें उन्होंने मनुस्मृतिके आधार पर अलग लिखा है। शासक सभाओंके पदाधिकारियोंके सम्बन्धमें वे लिखते हैं कि "मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, और प्रधान ये चार सब विद्याओंमें पूर्ण विद्वान होने चाहियें। इन चारों अधिकारोंपर सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंमें प्रवीण विद्यावाले धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनोंको स्थापित करना चाहिये।" (स० प्र० ६।१४७) स्थापित करनेका यही अभिप्राय है कि ये लोग नियुक्त (Appoint) किये जाते होंगे। इसी प्रकार व्यवस्थापक सभाओंके विषयमें मनुके आधार पर ही वे लिखते हैं कि "न्यूनसे न्यून दस विद्वानों अथवा बहुत

न्यून हों तो तीन विद्वानोंकी सभा जैसी व्यवस्था करे, उस धर्म अर्थात् व्यवस्थाका उल्लंघन कोई भी न करे।" यह दो प्रकारकी व्यवस्थापक सभायें हैं। एकका नाम है "दशावरा" और दूसरीका नाम है "त्र्यवरा"। 'दशावरा' वह है जिसके दस सभासद हैं। वे सभासद कैसे हों इस विषयमें आप लिखते हैं कि "इस सभामें चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदिके वेत्ता विद्वान् सभासद हों, परन्तु वे (त्रयश्चाश्रमिण:) ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों।" "त्र्यवरा" सभा वह है जिसके तीन सभासद हैं। वे भी तीनों वेदों ऋग्, यजु और सामके ज्ञाता ही होने चाहियें। इस प्रकार व्यवस्थापक सभाओंका उल्लेख किया गया है। क्षत्रिय वर्णको राज-पद (सभापतिका आसन) दिया गया है, ब्राह्मणों और संन्यासियोंको शासक-सभाओंका काम दिया गया है और व्यवस्थापक सभायें ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थियोंके प्रतिनिधियों के हाथोंमें सौंप दी गई हैं। शासनके इन तीन अंगोंके अतिरिक्त चौथा अंग अमात्य व सचिव अर्थात् मन्त्रियोंका है। इस विषयमें महर्षिने लिखा है "स्वराज्य स्वदेशमें उत्पन्न हुये, वेदादि शास्त्रोंके जानने वाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित (सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्) सात व आठ उत्तम, धार्मिक, चतुर सचिवान् अर्थात् मन्त्री करे"। (स० प्र० ६।१५१) इन मंत्रियोंकी नियुक्तिमें सबसे पहिली और मुख्य शर्त यह है कि वे स्वराज्य और स्वदेशमें उत्पन्न हुये होने चाहिये। राजनीतिक दृष्टिसे इस शर्तका महत्व दूसरी शर्तोंसे कहीं अधिक है। सात या आठसे अधिक भी मन्त्री

(अन्यानपि प्रकुर्वीत) रखे जा सकते हैं, किन्तु वे सब वैसेही होने चाहिये जैसे ऊपर बताये गये हैं। इससे यह मालूम होता है कि शासनका यह प्रकार वर्तमान शासन-पद्धति (Diarchy) के समान ही है। विदेशी राज्यमें यह शासनपद्धति घातक और असफल सिद्ध हुई है क्योंकि इस समय इसका प्रयोग स्वदेशकी उन्नतिके लिये बाधक रूपमें ही किया जाता है। किन्तु स्वराज्य-शासनमें यह पद्धति घातक न हो सकेगी। इसी प्रकार 'सत्यार्थप्रकाश'के पृष्ठ १५२ में इन सबका कार्य-विभाग (Functions) दिया गया है। 'अमात्यके आधीन दण्ड (Law and Order) राजाके आधीन राष्ट्रका कोष (Finance) और राजकार्य (Home Department) तथा सभाके आधीन सब कार्य (Other Functions) और दूतके आधीन किसीसे मेल या विरोध करना (Foreign Affairs) अधिकार देवे। इस प्रकार महर्षिकी शासन पद्धतिकी यह मुख्य मुख्य बातें हैं, जिनसे कि उनके राजनीतिक विचारोंका थोडा बहुत परिचय अवश्य मिलता है। अधिक उद्धरणोंसे लेखको लम्बा करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। फिर भी इसी सम्बन्धमें दो चार आवश्यक बातोंका उल्लेख कर देना आवश्यक मालूम होता है। राजा (सभापति) पर कितना कठोर अंकुश रहता था, यह उसकी नियत दिनचर्यासे मालूम हो सकता है। उसे थोडासा भी समय नहीं दिया गया है कि वह अपनी सुख-निद्रामें मस्त रह सके या प्रजाका ध्यान छोडकर अपनेही महलोंकी काम-वासनामय मौज लूटता रह सके। मद्यादिका सेवन, स्त्रियोंका विशेष संग और मृगया (शिकार) आदि आजकलके राजाओंके लिये आवश्यक फैशन सरीखे

होगये हैं। महर्षिकी राज्यपद्धतिमें राजाके आसनपर बैठे हुये राजा (सभापति) के लिये इन बातोंकी कडी रोक करते हुये उसे उसकी दिनचर्यामेंही ऐसा जकड़ा गया है कि वह इन बातोंकी ओर ध्यान ही नहीं दे सकता है। महर्षि लिखते हैं कि "इसलिये विशेष राजा और सब मनुष्योंको उचित है कि कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामोंमें न फंसें और दुष्ट व्यसनोंसे पृथक धर्मयुक्त गुण कर्म स्वभावोंमें सदा वर्त्तके अच्छे अच्छे काम किया करें।" (स० प्र० ६।१५०) प्राचीन आदर्शकी इस कसौटीपर कदाचितही आजकलका कोई राजा पूरा उतरे और अपने यहांके अनेक देशी नरेशोंकी तो छाया भी इस कसौटीपर पूरी न उतर सकेगी। इसी प्रसंगमें महर्षिके वे विचार भी उनके लेखोंसेही देखने चाहियें जो कि उन्होंने करके वसूल करने, उसके सदुपयोग करने, न्यायविभाग, सेनाविभाग एवं राज्यके सदाचारकी रक्षाके विषयमें प्रगट किये हैं। राजा प्रजापालन के कार्यमें कैसे सावधान रहे इस विषयमें वे लिखते हैं कि "जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मछलीके पकडनेको ताकता है वैसे अर्थसंग्रहका विचार किया करे, द्रव्यादि पदार्थ और बलकी वृद्धि कर शत्रुको जीतनेके लिये सिंहके समान पराक्रम करे, चीता के समान छिपकर शत्रुओंको पकडे और समीपमें आये बलवान शत्रुओंसे खरगोशके समान दूर भाग जाय और पश्चात् उनको छल से पकडे।" (स० प्र० ६।१५९) इसी प्रकरणमें महर्षिने अनेक ढंगकी व्यूहरचना, तीन प्रकारकी जल, स्थल और आकाशमें घूमने वाली सेनाओं, युद्धके नाना प्रकारके तोप, बन्दूक, तलवार आदि शस्त्रास्त्रों तथा अनेक तरहके दुर्गोंको बनाकर आत्मरक्षा करनेका

आदेश किया है। लड़ाईके जहाज और विमानोंका बहुत ही स्पष्ट उल्लेख किया है। राष्ट्रकी रक्षाके लिये इन सबको आवश्यक बताया है और लिखा है कि 'जैसे प्राणियोंके प्राण शरीरोंको कृषित करनेसे क्षीण होजाते हैं, वैसेही प्रजाओंको दुर्बल करनेसे राजाओंके प्राण अर्थात् बलादि बन्धुसहित नष्ट होजाते हैं।' (स० प्र० ६।१५९) युद्धके वैदिक नियम और राजनीतिक कैदियोंके प्रति व्यवहारका वैदिक आदेश जितना ऊंचा और पवित्र है संसारके इतिहासमें कदाचित ही कहीं और मिले। युद्धके नियमोंमें जहां क्षत्रियका धर्म "न दैन्यं न पलायनम्" बताया है, वहां उदारता भी इतनी बताई है कि 'जिनके घोडे मारे गये या खोगये हों, जो रथ वा शस्त्रविहीन हों, जो सन्मुख हाथ जोडकर खडे हों, जो शिरके बाल खोले हुये भागते आते हों, जो पीठ दिखाकर बैठ जांय, जो भागकर वृक्षों या पहाडों पर चढने लगें, दूतों तथा जो अपनेको ब्राह्मण या गाय कहकर दयाकी भिक्षा मांगें' युद्धमें उनको नहीं मारना चाहिये। इसी प्रकार युद्ध-विजय के बादके लिये लिखा है कि 'जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे तो उसीके वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुषको राजा कर दे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञाके अनुकूल अर्थात जैसी धर्मयुक्त राजनीति है उसके अनुसार चलके न्यायसे प्रजाका पालन करना होगा। ऐसे उपदेश कर ऐसे पुरुष उनके पास रक्खे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो और जो हार जाय उसका सत्कार प्रधान पुरुषोंके साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थोंके दानसे करे और ऐसा न करे जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह कर तो भी उसका

सत्कार यथायोग्य रक्खे जिससे वह हारनेके शोकसे रहित होकर आनन्द से रहे। ....इस पराजितके मनोवांछित पदार्थोंका देना बहुत उत्तम है और कभी उसको चिडावे नहीं, न हंसी और न ठट्ठा करे, न उसके सामने हमने तुझको पराजित किया है ऐसा भी कहे, किन्तु आप हमारे भाई हैं इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे।" (स० प्र० ६।१६९-७०) कितने ऊंचे और पवित्र आदेश हैं! क्या किसी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्के आदेश इस बीसवीं सदीमें अभीतक भी इतनी ऊंचाई और इस पवित्रतापर पहुंच सके हैं? सेनाविभाग या युद्धविभागकी तरहही न्यायविभागकी कल्पना भी आदर्श तक पहुंची हुई है। पृष्ठ १७६ और १७७ में वकील, साक्षी और न्यायाधीश आदिके कर्त्तव्य-कर्मका बहुत ही स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है। केवल एक वाक्य और देकर इस विषय को समाप्त करते हैं। वे लिखते हैं कि राजा 'प्रजाको अपने सन्तानके सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता सदृश राजा और राजपुरुषोंको जाने। यह बात ठीक है कि राजाओंके राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है, जो प्रजा न हो तो राजा किसका? राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने अपने काममें स्वतन्त्र और मिले हुये प्रीतियुक्त काममें परतन्त्र रहें। प्रजाकी साधारण सम्मतिके विरुद्ध राजा वा राजपुरुष न हों, राजाकी आज्ञाके विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले। यह राजाका राजकीय निजकाम अर्थात् जिसको 'पोलिटिकल' कहते हैं, संक्षेपमें कह दिया।' (स० प्र० ६।१७१) इन वाक्योंमें स्पष्ट ही कह दिया

गया है कि राजाओंके राजा तो परिश्रम करनेवाले किसान आदि हैं, राजा केवल उनका रक्षक है। रूसकी नवीन सोवियट सरकारके निर्माता लेनिनके विचारोंका समावेश इस एक ही वाक्यमें हो जाता है। महात्मा गांधीका भी राजनीतिक ध्येय इसी वाक्यमें आ जाता है। दो हजार गज सूत कताईकी शर्त और भारतके स्वराज्यकी भावी सरकारमें मताधिकारकी शर्त हाथके कामको रखना भी यही अर्थ रहता है।

३. प्रजाही राजाकी नियुक्ति करे।

यह पीछे बताया गया है कि महर्षिकी राज्यपद्धतिमें राजा राजसभाका सभापतिमात्र है। इस सभापति (राजा) की नियुक्ति कैसे हो? महर्षि लिखते हैं कि 'हे मनुष्यो! जो इस मनुष्य के समुदायमें परमैश्वर्यका कर्ता शत्रुओंको जीत सके, जो शत्रुओंसे पराजित न हो, राजाओंमें सर्वोपरि विराजमान या प्रकाशमान हो, सभापति होनेके अत्यन्त योग्य, प्रशंसनीय गुण कर्म स्वभाव युक्त, सत्करणीय, समीप जाने और शरण लेने योग्य सबका माननीय होवे उसीको सभापति या राजा करो।" (स० प्र० ६।१४३) इससे यह बताया गया है कि किन गुणोंसे युक्त व्यक्तिको सभापति बनाना चाहिए। फिर आगे महर्षि लिखते हैं कि 'हे विद्वानो, राज-प्रजा-जनो! तुम इस प्रकारके (ऊपर बताये) पुरुषको·······सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित पूर्णविद्याविनययुक्त सबके मित्र सभापति राजाको सर्वाधीश मानके सब भूगोल शत्रुरहित करो।' स्पष्ट है कि सभापतिको सम्मति करके ही नियत करना चाहिए। यहां हम इस

सभापतिके गुणोंको महर्षिके शब्दोंमें ही लिखनेके प्रलोभनको दबा नहीं सकते। मनु० ७।४—७ के आधारपर वे लिखते हैं कि "वह सभेश राजा 'इन्द्र' अर्थात विद्युतके समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्ता, 'वायु' के समान सबके प्राणवत प्रिय और हृदयकी बात जाननेहारा, 'यम' पक्षपातरहित न्यायाधीशके समान वर्तनेवाला, 'सूर्य'के समान न्याय, धर्म, विद्याका प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्यायका निरोधक, 'अग्नि' के समान दुष्टोंको भस्म करनेहारा, 'वरुण' अर्थात बांधनेके सदृश दुष्टोंको अनेक प्रकारसे बांधनेवाला, 'चन्द्र'के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषोंको अन्नदाता, 'धनाध्यक्ष'के समान कोशोंका पूर्ण करने वाला सभापति होवे।" इस प्रकार चहुंमुख गतिवाले पुरुषको ही सभापति चुननेका आदेश महर्षिने किया है। यही सभापति महर्षिकी राज्यपद्धतिमें राजा है।

४. राजा भी दण्डनीय है

इंगलैण्डकी राज्यप्रणालीके राजाकी तरह महर्षिकी राज्य-प्रणालीका राजा दण्डकी पहुंच से बाहिर नहीं है। यहां तो राजाको औरोंकी अपेक्षा अधिक कडे दण्डका भागी बताया है। वैसे तो राजा ही दण्डका नियामक है और दण्डको इतना अधिक माहात्म्य दिया है कि "दण्ड ही को पुरुष कहा है, उसे ही राजा; न्यायका प्रचारकर्ता और सबका शासनकर्ता, उसे ही चार वर्णों और चार आश्रमोंके धर्मका प्रतिभू अर्थात जामिन कहा है।" जहां राजाके हाथ में इतनी शक्ति है वहां उसके हाथोंको जकडा भी हुआ है। महर्षि लिखते हैं कि 'जो दण्डको अच्छे प्रकार राजा चलाता है वह

धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी सिद्धिको बढाता है और जो विषय में लम्पट, टेढा, ईर्ष्या करने हारा, क्षुद्र, नीच बुद्धि न्यायाधीश राजा होता है, वह दण्डसे ही मारा जाता है।" (स० प्र० ६।१४६) इसी प्रकार अन्यत्र वे लिखते हैं कि "जिस अपराध में साधारण मनुष्यपर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराध में राजाको सहस्र पसा दण्ड होवे अर्थात साधारण मनुष्यसे राजाको सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिये। मन्त्री अर्थात राजाके दीवानको आठसौ गुणा, उससे न्यूनको सातसौ गुणा, और उससे भी न्यूनको छः सौ गुणा। इसी प्रकार उत्तर उत्तर अर्थात एक छोटेसे छोटा भृत्य अर्थात चपरासी है उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिये। क्योंकि यदि प्रजापुरुषोंसे राजपुरुषोंको अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषोंका नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोडे दण्डसे वशमें आजाती है। इस लिये राजासे लेकर छोटेसे छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषोंको अपराधमें प्रजापुरुषोंसे अधिक दण्ड होना चाहिये।" (स० प्र० ६।१८०-८१) वैदिक राज्यपद्धतिका यह सिद्धान्त नहीं है कि "King can do no wrong" अर्थात् राजा कोई भूल कर ही नहीं सकता है। अन्ततोगत्वा राजा भी मनुष्य ही है। मनुष्यसे भूल होना बहुत सम्भव है किन्तु राजा जिसने सारे राज्य पर दण्डका नियम करना है, यह कह कर क्षमा नहीं किया जासकता कि वह मनुष्य है। वह और उसके कर्मचारी दण्डका अंकुश न रहनेसे अधिक उछृंखल होसकते हैं और उनकी करतूतोंका प्रभाव प्रजामें अनेक अनर्थ पैदा कर सकता है, इसलिये प्रजाकी

अपेक्षा उनपर दण्डका कठोर अंकुश होना आवश्यकही है और वे प्रजाकी अपेक्षा अधिक दण्डके भागी होनेही चाहियें।

राष्ट्रके ब्रह्मचर्यकी रक्षा

इस प्रकार महर्षिके कुछ राजनीतिक विचारोंका खुलासा हो गया। यहां एक उद्धरण और देकर फिर इस विषय पर और अधिक चर्चा नहीं करेंगे। वह उद्धरण उनके राजनीतिक समुल्लासके अन्तिम हिस्सेमें से है। इसमें उन्होंने राजाका ध्यान जिस बात की ओर आकृष्ट किया है, वह बहुत आवश्यक है। वे लिखते हैं कि "जो राजनियम प्रजा और राजाके सुखकारक और धर्मयुक्त समझें उन उन नियमोंको पूर्ण विद्वानोंकी राजसभा बांधा करे। परन्तु इस पर नित्य ध्यान रक्खें कि जहांतक बन सके वहांतक बाल्यावस्थामें विवाह न करने देवें, युवावस्थामें भी बिना प्रसन्नताके विवाह न करना कराना और न करने देना, ब्रह्मचर्यका यथावत सेवन करना, व्यभिचार और बहुविवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मामें पूर्णबल सदा रहे क्योंकि जो केवल आत्माका बल अर्थात् विद्याका ज्ञान बढ़ाये जांय और शरीरका बल न बढावें तो एक ही बलवान पुरुष ज्ञानी और सैकडों विद्वानोंको जीत सकता है और जो केवल शरीर ही का बल बढाया जाय, आत्माका नहीं, तो भी राज्यपालनकी उत्तम व्यवस्था बिना विद्याके कभी नहीं हो सकती। बिना व्यवस्थाके सब आपस की फूट, टूट, विरोध, लडाई, झगडा करके नष्ट भ्रष्ट हो जायें। इस लिये हमेशा शरीर और आत्माके बलको बढाते रहना चाहिये। जैसा बल

और बुद्धिका नाशक व्यवहार व्यभिचार और अतिविषयासक्ति है, वैसा और कोई नहीं। विशेषतः क्षत्रियोंको दृढांग और बलयुक्त होना चाहिये, क्यों कि जब वे ही विषयासक्त होंगे तो राज्यधर्म ही नष्ट हो जायगा और इस पर भी ध्यान रखना चाहिये कि "यथा राजा तथा प्रजा" जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है। इसलिये राजा और राजपुरुषोंको अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें किन्तु सब दिन धर्म, न्यायसे वर्त कर सबका सुधारका दृष्टान्त बनें।" (स० प्र० ६।१८३-८४) इस उद्धरणसे यही दिखानेका प्रयोजन है कि महर्षि राष्ट्रके ब्रह्मचर्यकी रक्षा पर कितना अधिक जोर देते हैं। इस समयके राष्ट्रोंका इस विषयकी ओर बहुत ही कम ध्यान है किन्तु व्यभिचारको छिपाने—न कि हटानेकी प्रवृति बहुत अधिक है। व्यक्तिकी तरहही राष्ट्रके लिये भी ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है। इस समयके राज्यकर्ता महर्षिके उक्त उद्धरणको ध्यानसे पढें। राजा कैकेयको अपने राज्यके विषयमें अभिमान था कि "न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।" क्या आजकलका कोई राजा इस अभिमान तक पहुंच सकता है? पीछे हम लिख आये हैं कि महर्षिने "विदेशियोंके आर्यावर्तमें राज्य होनेका कारण आपसका मतभेद, **ब्रह्मचर्यका सेवन न करना, बाल्यावस्थामें अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति**" आदि कुकर्म (स० प्र० १०।२८०) बताये हैं। यहां उन्हींसे राज्यको बचाये रखनेका आदेश महर्षिने किया है। इस समयके राष्ट्र भी धीरे धीरे इस आदेशकी सचाईको समझ रहे हैं। वस्तुतः राष्ट्रका ब्रह्मचर्य ही

राष्ट्रका जीवन है। 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति' अर्थात राजा तपमय जीवनसे ब्रह्मचर्य द्वाराही राष्ट्रकी विशेष रक्षा करता है।

९ महर्षिकी स्वराज्य कल्पना

यह पीछे बताया गया है कि इस समयसे चालीस पचास वर्ष पहिले लिखे गये महर्षिके ग्रन्थोंमें भारतके लिए स्वराज्य, साम्राज्य और चक्रवर्ती राज्यकी चर्चा जहां तहां मिलती है। १९०६ में कांग्रेसके सभापतिके आसनसे पितामह दादाभाई नवरोजीने 'स्वराज्य' शब्दका उच्चारण किया था। १९१६ में लोकमान्यने लखनऊ कांग्रेसमें 'स्वराज्यके जन्मसिद्ध अधिकार' होनेका दावा किया था। १९२० में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) ने अपने ध्येय में 'स्वराज्य' शब्दका समावेश किया और इस समय भी 'स्वराज्य' के अर्थमें विवाद है। मौलाना हसरत मोहानी और उनके साथी 'पूर्ण स्वातंत्र्य' की घोषणा करना चाहते हैं। मॉडरेट लोग स्पष्ट ही 'साम्राज्यान्तर्गत-स्वराज्य' के सुर अलापते हैं। महात्माजीने भी इस विषयमें अपना मत कुछ स्पष्ट नहिं किया है। उन्होंने यही कहा है कि "साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य यदि सम्भव हो और साम्राज्य से पृथक् यदि आवश्यक हो।" पूर्ण स्वातन्त्र्यके विचारका तो महात्माजीने प्रतिवाद ही किया है। महर्षिके स्वराज्यकी कल्पना विशेषणों और शर्तोंसे रहित थी। उनके सामने देशके स्वातन्त्र्यके सिवाय दूसरा कोई स्वराज्यका अर्थ ही नहीं था। जहां कहीं उन्होंने स्वराज्य शब्दका प्रयोग किया है, वह पूर्ण स्वातन्त्र्यका द्योतक है। वे तो भारतका राज्य दूसरे देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरोंमें

भी चाहते थे। इसी लिए उन्होंने भारतके लिए साम्राज्य और सार्वभौम चक्रवर्ती राज्यकी जहां तहां चर्चा की है। इस चर्चाका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। यहां एक उद्धरणसे यही दिखाना है कि महर्षि स्वराज्य—अपने देशवासियोंके राज्य—को ही सर्वोपरि सर्वोत्तम और ग्राह्य मानते रहे हैं। बात यह है कि उनके लिए वेदका ही यह आदेश है कि 'यदजः प्रथमं संबभूव, सह तत्स्वराज्यमि- याय। यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्।" (अथर्व० १०।७।३१) अर्थात् "जब कि कर्मयोगी प्रजागण सबसे प्रथम संगठित होता है तब यह (संगठित हुआ हुआ ही) स्वराज्य प्राप्त करता है, जिस स्वराज्यसे श्रेष्ठ दूसरा कोई राज्य नहीं है।" इस मंत्रसे वेदने दो बातें स्पष्ट की है। एक यह है कि बिना संगठनके स्वराज्यकी प्राप्ति और उसकी रक्षा करना कठिन है। दूसरी यह है कि स्वराज्यसे बढ़कर दूसरा कोई राज्य नहीं है। महर्षिके अपने ही शब्द सुनिये। वे लिखते हैं कि "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तरके आग्रह-रहित, अपने और परायेका पक्षपात-शून्य, प्रजापर पि- ता माताके समान कृपा, न्याय और दयाके साथ विदेशियोंका राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।' (स० प्र० ८।१२८) कैसे स्पष्ट शब्द और स्पष्ट भाव है? इनका दूसरा कोई अर्थ हो ही नहीं सकता है। स्पष्ट है कि अच्छेसे अच्छा, सब प्रकारके मतमतान्तरके आग्रहसे रहित, अपने परायेके पक्षपातसे पृथक, अपनी प्रजापर पिता माताकी तरह ही कृपा, दया और न्याय करनेवाला विदेशी राज्य भी स्वदेशी राज्य—स्वराज्य—से अच्छा नहीं है।

पाठक, विशेषतः विदेशी राज्यके भक्त आर्य भाई, महर्षिके स्वराज्यकी इस कसौटीपर अपनी भक्ति के पुतले विदेशी राज्यकी परख तो करें। न तो यह राज्य मत-मतान्तरके आग्रहसे रहित है—क्योंकि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपमें कितने ही ईसाई धर्म-प्रचारकोंको उनके कार्यमें सहायता दी जाती है, न यह राज्य अपने परायेके पक्षपातसे ही शून्य है—क्योंकि सरकारी नौकरियों, अधिकारों और बडी बडी वेतनोंके कामोंमें गोरी चमडीका स्पष्ट ही पक्षपात किया जाता है और अदालती न्यायमें भी दो तराजुओंसे काम लिया जाता है ? इस राज्यकी अपनी प्रजापर माता-पिताके समान कृपा, न्याय और दयाकी दैनिक घटनाओंके संग्रह से तो समाचारपत्रोंके कलेवर रंगे रहते हैं। इसपर भी यदि कोई आर्य भाई इस राज्यको अच्छा कहता हुआ अपनेको महर्षिका चेला कहे तो सिवाय आश्चर्य व दुःखके और क्या हो सकता है ? महर्षिका स्वराज्य पूर्ण स्वातन्त्र्य है, जो बिना किसी विशेषण और बिना किसी शर्त के है, और यह उनकी कल्पना उस समयकी है जब कि किसी भी दूसरे बडे व्यक्तिने स्वराज्यकी चर्चा तो क्या, स्वराज्य शब्दका उच्चार भी न किया था। इसीलिये महर्षि स्वराज्यकी राष्ट्रीय भावनाके जन्मदाता हैं। स्वामी श्रद्धानन्दजी अपने कुछ लेखों में यह दिखा चुके हैं कि पितामह दादाभाईने भी 'स्वराज्य' शब्दका प्रयोग महर्षिसे ही सीखा था। आइये, अब उनके उन भावोंका अध्ययन करें जो कि स्वराज्य से भी आगे बढकर साम्राज्य और चक्रवर्ती राज्यकी ओर ले जाते हैं।

६. महर्षिका साम्राज्य वा चक्रवर्ती राज्य

महर्षिने अपने लेखोंमें कई जगह भारतके प्राचीन साम्राज्य व चक्रवर्ती राज्यकी चर्चा करते हुये देशवासियोंके अभाग्योदयसे उनके नष्ट होजानेपर बड़ा ही दुःख प्रकट किया है। 'सत्यार्थप्रकाश के खण्डनात्मक प्रकरण (ग्याहरवें समुल्लास) का प्रारम्भ ही देश-भक्तिके उज्वल भावोंसे हुआ है। इसीके प्रारम्भमें वे लिखते हैं कि "सृष्टिसे लेके पांच सहस्र वर्षोंसे पूर्व समय पर्यन्त आर्योंका सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात भूगोलमें सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देशोंमें माण्डलिक अर्थात छोटे छोटे राजा रहते थे।" "स्वायंभव राजासे लेकर पांडवों पर्यन्त आर्योंका चक्रवर्ती राज्य रहा, तत्पश्चात् परस्परके विरोधसे लडकर नष्ट हो गये, क्योंकि इस परमात्माकी सृष्टिमें अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान लोगोंका राज्य बहुत दिन नहीं चलता।" फिर मैत्र्युपनिषत प्र० १ खं० ४ का प्रमाण देते हुये आप लिखते हैं कि "इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि सृष्टिसे लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्यकुलहीमें हुये थे। अब इनके सन्तानोंका अभाग्योदय होनेसे राज्य-भ्रष्ट होकर विदेशियोंके पादाक्रान्त हो रहे हैं।" (स० प्र० ११।२८९-९१) इसी प्रकार अन्यत्र वे लिखते हैं कि "अब अभाग्योदयसे और आर्योंके आलस्य, प्रमाद, परस्परके विरोधसे अन्य देशोंके राज्य करनेकी तो कथाही क्या कहना, किन्तु आर्यावर्तमेंभी आर्योंका अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियोंके

पादाक्रान्त हो रहा हैं। कुछ थोडे राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दैव जब आता है तब देशवासियोंको अनेक प्रकारके दुःख भोगना पडता है।" (स० प्र० ८।२३७-३८) राजधर्म (राजनीति) के प्रकरणकी समाप्ति महर्षिने जिस भावनासे की है, वह भी देखनेही योग्य है। वे लिखते हैं कि "यह संक्षेपसे राजधर्मका वर्णन यहां किया है। विशेष वेद, मनुस्मृतिके सप्तम, अष्टम, नवम अध्यायमें और शुक्रनीति तथा विदुर प्रजागर और महाभारत शान्तिपर्वके राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकोमें देखकर पूर्ण राजनीतिको धारण करके माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य करें और यह समझें कि 'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम' (यह यजुर्वेदका वचन है) हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वरकी प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टिमें हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथसे अपने सत्य न्यायकी प्रवृत्ति करावे।" (स० प्र० ६।१८४) दूसरे देशोंमें राज्य करनेका उद्देश्यभी महर्षिने बहुत स्पष्ट लिख दिया है। वे लिखते हैं कि "क्या विना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तरमें राज्य व व्यापार किये स्वदेशकी उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेशहीमें स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेशमें व्यवहार व राज्य करें तो बिना दारिद्र्य और दुःखके दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।" (स० प्र० १०।२७८) इस प्रकार महर्षिके साम्राज्य व चक्रवर्ती राज्यकी यह कल्पना है। इससे यह स्पष्ट है कि महर्षिको अपने देशमें विदेशी राज्यकी सत्ता असह्य थी, अपने राज्यके नाशका दुःख इन्हें दुःखी किये हुये था,

अपने देशवासियोंके अभाग्योदयको देख देखकर वे अत्यन्त कष्ट अनुभव किया करते थे। उनका अपना राज्य स्वराज्य तभी है जब कि वह अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन और निर्भय हो। दूसरे देशोंमें अपना राज्य इस लिये चाहिये कि उनके बिना अपना देश सुखी और समृद्ध नहीं हो सकता है। इससेभी बढ़कर दूसरी बात यह है कि "हमारे हाथसे सारे संसारमें सत्य और न्यायकी प्रवृत्ति हो।" चक्रवर्ती सार्वभौम राज्यका संगठन और शासन किस उत्तम विधिसे होता था यह इतिहाससे मालूम हो सकता है। किन्तु महर्षिने इसके लिये जो कुछ लिखा है, उसकाभी यहां उल्लेख कर दिया जाता है। महर्षिके इस लेखकी प्रेसीडेण्ट विल्सनके राष्ट्र-संघ की कल्पनासे तुलना कीजिये।

७ महर्षिकी राष्ट्र-संघकी कल्पना

पीछे दिये गये महर्षिके उद्धरणोंसे पाठक जान गये होंगे कि सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राटके नीचे अनेक छोटे छोटे माण्डलिक राजाओंके रहनेका उल्लेख किया गया है। इन सबके परस्पर सम्बन्ध और राज्यकी शासन-व्यवस्थाके विषयमें महर्षिने लिखा है कि "राजा और राजसभा राजकार्यकी सिद्धिके लिये ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य यथावत सिद्ध हों, जो राजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उसको सुख बढ़ता है। इस लिये दो, तीन, पांच और सौ ग्रामोंके बीचमें एक राज्यस्थान रक्खे जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात कामदार आदि राजपुरुषोंको रखकर सब राज्यके कार्योंको पूर्ण करें। एक एक ग्राममें एक एक प्रधान पुरुष

को रखे। उन्हीं दश ग्रामोंके ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामोंके ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामोंके ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्र ग्रामोंके ऊपर पांचवां पुरुष रक्खे अर्थात जैसे आजकल एक ग्राममें एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामोंमें एक थाना और दो थानोंपर एक बड़ा थाना और उन पांच थानोंपर एक तहसील और दश तहसीलोंपर एक जिला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्रोंसे राजनीतिका प्रकार लिया है। इसी प्रकार प्रबन्ध करे और आज्ञा देवे कि वह एक एक ग्रामोंका पति ग्रामोंमें नित्य-प्रति जो जो दोष उत्पन्नाहों उन उनको गुप्ततासे दश ग्रामके पतिको विदित कर दे और वह दश-ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्रामके स्वामीको दश ग्रामोंका वर्तमान नित्य-प्रति जना देवे। बीस ग्रामोंका अधिपति बीस गांवोंके वर्तमानको शतग्रामाधिपतिको नित्य-प्रति निवेदन करे। वैसे सौ सौ ग्रामोंके पति आप सहस्राधिपति अर्थात हजार गांवोंके स्वामी को सौ सौ ग्रामोंके वर्तमानको प्रतिदिन जनाया करें और बीस बीस ग्रामके पांच अधिपति सौ सौ ग्रामके अध्यक्षको और वे सहस्र सहस्रके दश अधिपति दस सहस्रके अधिपति और लक्ष ग्रामोंकी राजसभाको प्रति-दिनका वर्तमान जनाया करें। और वे सब राज सभा, महाराज सभा, अर्थात सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज-सभामें सब भूगोलका वर्तमान जनाया करें।" (स० प्र० ६।१५९-६०)

सार्वभौम मचक्रवर्ती महाराज-सभाका विचार वर्तमान राष्ट्र-संघका कल्पनासे कुछ कम नहीं है। इन विचारों या कल्पनाओंकी तुलनाका काम पाठक स्वयं करें।

महर्षिकी वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना

महर्षिके राजनीतिक सिद्धान्तों और विचारोंसे अधिक महत्व की बात यह है कि महर्षिने २२ करोड़ हिन्दुओंके धर्मशास्त्रों विशेषतः वेदों पर विचार (भाष्य) राष्ट्रीय दृष्टिसे किया है। इस समय तक धर्मशास्त्रों व वेदोंको केवल धार्मिक दृष्टिसे ही देखा जाता था। महर्षिने ही धर्मके राजनीतिक स्वरूपको प्रगट किया है और महर्षिने ही वेदोंके राष्ट्रीय स्वरूप, राष्ट्रीय विचार और राष्ट्रीय भावको प्रगट किया है। उनके समयके दूसरे महापुरुष अपने इन धर्मग्रन्थोंका तलाक कर चुके थे। एक तो उनके लिये इनका पढना और समझना ही कठिन था, दूसरे पाश्चात्य विज्ञानकी बराबरीमें उन लोगोंको अपने देशमें कुछ दीखता ही नहीं था। महर्षिको प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजी महाराजसे इन शास्त्रोंका ज्ञान किसी महान सौभाग्य मे ही प्राप्त हुआ और देशवासियोंके सौभाग्यसे ही उनको महर्षि द्वारा धर्मशास्त्रोंकी यह राष्ट्रीय भावना प्राप्त हुई। महर्षिके वेदभाष्योंके आधारपर ही श्री० पं० चन्द्रमणिजी विद्यालंकार (उपाध्याय-गुरुकुल कांगड़ी) ने "स्वामी दयानन्दका वैदिक-स्वराज्य" नामकी छोटीसी पुस्तक लिखी है। इसमें आपने महर्षिके वेदभाष्योंसे ही उनके राजनीतिक विचारोंका संग्रह किया है। इस लेखमें उन सबके संगृहीत करनेकी आवश्यकता नहीं। यहां केवल दो एक ही मन्त्र दिये जाते हैं। इनसे ही स्थालीपुलाकन्यायकी तरह पाठक वैदिक प्रार्थनाका राजनीतिक स्वरूप समझ लेंगे।

आर्यसमाजकी प्रार्थना-पुस्तकोंमें महर्षि द्वारा लिखी गई 'आर्याभिविनय'का आसन बहुत ऊंचा है। परमात्माकी राष्ट्रीय नामोंसे

प्रार्थना या उपासना करना आर्याभिविनयकी प्रार्थनाकी विशेषता और उत्कृष्टता है। स्थान स्थानपर राजा, साम्राज्य-प्रसारक, सुराज्यप्रद, राज्यविधायक, महाराजाधिराज, महाराजाधिराजेश्वर, सम्राट् आदि शब्दोंसे परमात्माकी उपासना या प्रार्थना की गई है। यद्यपि 'आर्याभिविनय'के मन्त्रोंके अर्थ परमेश्वरसम्बन्धी ही किये गये हैं, व्यवहार सम्बन्धी नहीं (देखिये पुस्तककी भूमिका) तो भी इसमें राष्ट्रीय प्रार्थना बहुत अधिक मिलती है। मन्त्र ३।५।१८।४३।४५ प्रथमप्रकाश और मन्त्र १।१३।१६ १८।३१ व ३७ द्वितीय प्रकाश (मन्त्रसंख्या आर्याभिविनयकी अपनी है) के अर्थोंमें स्पष्ट ही राज्य और चक्रवर्ती राज्यकी प्राप्तिकी प्रार्थना की गई है। उदाहरणके लिये दो मन्त्र यहां दिये जाते हैं। यजु० ३८।१४ मन्त्रके "क्षत्राय पिन्वस्व" का अर्थ महर्षिने किया है कि "हे महाराजाधिराज परब्रह्मन्! 'क्षत्राय' अखण्ड चक्रवर्ती राज्यके लिये शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपासे हम लोगोंको यथावत् पुष्टकर। अन्य देशवासी राजा हमारे देशमें कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" यजु० ३६।२४ मन्त्रके 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्" का अर्थ महर्षिने लिखा है कि "हम सौ वर्षतक की आयुमें कभी पराधीन न हों और स्वाधीन ही रहें।" यजु० १८।२९ के मन्त्रके व्याख्यानमें महर्षिने लिखा है कि 'आपकी कृपासे 'स्वरगन्म' उत्तम सुखको प्राप्त हों, जब तक जीवें तबतक सदा चक्रवर्ती राज्यादि भोगसे सुखी रहें।" महर्षिकी वैदिक प्रार्थनाके राजनीतिक-स्वरूपको दिखानेके लिये इतना ही बहुत है।

महर्षिका स्वदेशी-व्रत

इतना सबके लिखनेके बाद महर्षिके स्वदेशी-व्रतके विषयमें कुछ विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। पीछे दिखाया गया है कि महर्षि अन्दर और बाहिरसे बिलकुल स्वदेशी ही थे। उनके जीवनकी बहुतसी घटनायें प्रसिद्ध हैं; जिनसे उनके स्वदेशी-व्रतकी साक्षी मिलती है। उसमेंसे यहां केवल एक ही घटना उद्धृतकी जाती है। एक दिनका वर्णन है कि ठाकुर उधोसिंह, छावली निवासी अपने पिता और ठाकुर भूपालसिंहजीके साथ स्वामीजीके दर्शन करनेके लिये अलीगढ़में आये। उस दिन ऊधोसिंहजीके वस्त्र नये ढंगके थे और सबके सब विलायती कपड़ेके बने थे। ऊधोसिंहजी कुछ काल छलेसरकी पाठशालामें भी अध्ययन करते रहे थे, इस लिये महाराज उन्हें भली भांति जानते थे। स्वामीजीने अति प्यारसे कहा—"ऊधव! देखो तुम्हारे पिता कैसे मोटे, सादे और अपने देशके कपड़ेके बने वस्त्र पहरते हैं। इनका जाति बिरादरीमें कितना अधिक सम्मान है। क्या तुम, इस विदेशी कपड़ेसे बने नये वेशसे विभूषित होकर अपने पितासे अधिक सत्कृत हो गये हो? ऊधव! अपने ही देशके वस्तु वेशको अपनानेमें शोभा है।" स्वामीजीका यह उपदेश ऊधोसिंहजीके हृदयमें घर कर गया। उन्होंने अपने डेरेपर जाकर वे वस्त्र उतार दिये और पुराने ढंगके स्वदेशी वस्त्र धारण कर लिये।' (श्रीमद्० पृष्ठ २२४) इसी सम्बन्धमें एक उद्धरण पीछे दिया भी जा चुका है, उसे यहां देना भी कुछ अप्रासंगिक न होगा।

महर्षि लिखते हैं कि "देखो ! अपने देशके बने हुये जूतेको कार्यालय (आफिस) और कचहरीमें जाने देते हैं; इस देशी जूतेको नहीं, इतनेहीमें समझ लेओ कि अपने देशके बने जूतोंका भी कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्योंका नहीं करते। देखो ! कुछ सौ वर्षसे ऊपर इस देशमें आये युरोपियनोंको हुये और आजतक ये लोग मोटे कपडे आदि पहिरते हैं, जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे, परन्तु उन्होंने अपने देशका चाल चलन नहीं छोडा और तुममेंसे बहुतसे लोगोंने उनका अनुकरण कर लिया। इसीसे तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान ठहरते हैं, अनुकरण करना किसी बुद्धिमानका काम नहीं।' (स० प्र० ११।३९९) महर्षिका स्वदेशी व्रत केवल स्वदेशी वस्त्रोंतक ही सीमित नहीं है, वह स्वदेशी भाषाके अभिमान, अपने पूर्वजों और अपनी पूर्व सभ्यताके प्रेमके रूपमें भी प्रगट हुआ था। पीछे दिखाया जा चुका है कि महर्षिने ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाजके लोगोंमें स्वदेशी भावोंका अभाव ही एक भारी दोष दिखाया है। यह सब बातें उनके स्वदेशी व्रतकी महिमा बतानेके लिये पर्याप्त हैं। महर्षि सभी दृष्टियोंसे पूर्ण और शुद्ध स्वदेशी थे।

महर्षिका सत्याग्रह

महर्षिका सारा ही जीवन सत्याग्रहके सिद्धान्तोंको लिये हुए था। सत्य और बिना किसी शर्तका सत्य उनके जीवन-कार्यका आधार था। आर्यसमाजकी स्थापना ही सत्यकी आधार शिलापर की गई थी। आर्यसमाजका चौथा और पांचवां नियम ही यह है

कि "सत्यके ग्रहण करने और असत्यके छोड़नेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। सब काम धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्यको विचार करके करने चाहियें।' महर्षिके ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाशको मीमांसकोंकी कसौटीपर परख करते हुये यह दिखाया गया है कि उनके सारे कार्यका आधार सत्य ही था और उनकी विचारसरणिके लिये प्रकाशस्तम्भ भी सत्य ही था। सत्यके प्रचार और विचार आदिके लियेही महर्षिने सब कुछ लिखा और किया। बस, यही उनका सत्याग्रह है। इस सत्याग्रहका प्रयोग महर्षिने सरकारके विरुद्ध नहीं किया किन्तु अपने देशवासियोंके अविद्यान्धकारको हटाने, उनके पारस्परिक विरोधको मिटाने, उनकी सामाजिक कुरीतियोंको भगाने, उनकी पुरातन वर्णाश्रमपद्धतिको फिरसे जगाने और इसी प्रकार सोते हुए देशवासियोंको उठाकर उनको बिठानेमें इसका प्रयोग अवश्य किया। कई बार उनका जीवन अत्यन्त संकटमय हो गया और कई बार विरोधियोंने उनपर भयंकर व घातक आक्रमण भी किये, दो बार विषतक खिलाया किन्तु वे सत्यकी चट्टानपर अंगदके अंगूठेकी तरह जमे रहे। कोई शक्ति उनको उससे विचलित नहीं कर सकी। आक्रमणकारियों पर दया व कृपा करते हुये उन्हें सदा क्षमाही करते रहे। अपनेको विष खिलाने वालोंको उन्होंने कभी नहीं पकड़वाया, अपने पर वार करने वालोंकोभी कभी उन्होंने पुलिसके सुपुर्द नहीं किया और न कभी किसी विरोधी पर आवेश या क्रोधमें आकर उन्होंने आक्रमण ही किया। उनके जीवनकी एक घटना यहां दे देना बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। सन् १९६५ ईस्वीमें महर्षि अजमेर गये थे। अजमेरमें उन्होंने वहांके पादरियोंसे तीन दिन तक

ईसाई-धर्मके सम्बन्धमें संवाद किया। 'कहते हैं कि बादमें किसी आक्षेपके कारण चिढकर पादरी शूलब्रेडने स्वामीजीसे कहा कि ऐसी बातोंसे आप कभी कारावासमें चले जायेंगे। स्वामीजीने गम्भीरतासे मुस्कराते हुये कहा "सत्यके लिये कारावास कोई लज्जाजनक वार्ता नहीं है। धर्मपथ पर आरूढ होकर मैं ऐसी बातोंसे सर्वथा निर्भय होगया हूं। प्रतिपक्षी लोग यदि अपने प्रभावसे ऐसा कष्ट दिलायेंगे तो जहां कष्ट सहते हुये मेरे चित्तमें शोकका कोई तरंग भी न उत्पन्न होगा, वहां मैं अपने प्रतिपक्षियोंकी अकल्याण-कामना भी कभी नहीं करूंगा। पादरीजी ! मैं लोगोंके डरानेसे सत्यको नहीं छोड सकता। ईसाको भी लोगोंने फांसी पर लटका ही तो दिया था।" (श्रीम० ८१) इसी प्रकार जब वे जोधपुरकी ओर जाने लगे, तब शाहपुरके लोगोंने उनको वहांके लोगोंकी निठुर प्रकृतिका परिचय देते हुये रोका किन्तु स्वामीजीने उत्तर दिया कि "यदि लोग हमारी अगुलियोंकी बत्तियां बनाकर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्योपदेश करूंगा।" (श्रीम० ४९९) महर्षिके सत्याग्रहका यही स्वरूप और यही प्रयोग था।

महर्षिका असहयोग 'अप्रियाचरण'

भारतके वर्तमान अहिंसात्मक असहयोगके प्रवर्तक महात्मा गांधी हैं किन्तु असहयोग संसारमें विशेषतः भारतीय राजनीतिमें बहुत पुरानी नीति है। देशकी अत्याचारी सरकारसे अलग होकर उसके कार्यमें साथ न देना और उसके नाशका उद्योग करना ही 'असहयोग' है। महर्षिने 'सत्यार्थप्रकाशके अन्तमें स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश में मनुष्यका लक्षण करते हुए उसका धर्म बताया है कि "मनुष्य

उसीको कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्योंके सुख दुःख और हानि-लाभको समझे। अन्यायकारी बलवानसे भी न डरे और धर्मात्मा निर्बलसे भी डरता रहे। इतना ही नहीं अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओंकी चाहे वे महा अनाथ, निर्बल, गुणरहित क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति प्रियाचरण करे और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान्, और गुणवान् भी क्यों न हो तथापि उनका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहांतक होसके वहांतक अन्यायकारियोंके बलकी हानि और न्यायकारियोंके बलकी उन्नति सर्वथा किया करे, इस काममें चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्मसे पृथक् कभी न होवे ?" इस समय भी असहयोगके लिये अनेक नाम हैं। सिक्खोंका असहयोग 'नामिलवर्तन' है, मुसलमानोंका 'तर्कमवालात' और महाराष्ट्रियोंका 'असहकारिता' है। इसी प्रकार महर्षिके शब्दोंमें आर्यसमाजका असहयोग 'अप्रियाचरण' है।

बम्बईमें पहिली बार बनाये गये आर्यसमाजके नियमोंमें उनत्तीसवां नियम यह है कि "जबतक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले तबतक औरकी नौकरी न करे और न किसी और को नौकर रक्खे, वे दोनों परस्पर स्वामी-सेवक-भावसे यथावत वर्तें।" इसी प्रकार आर्यसमाजके उपनियमोंमें ३९ वां उपनियम यह है कि "यदि आर्यसमाजमें किसीका आपसमें झगड़ा हो तो उनको योग्य होगा कि वे उसको आपसमें समझलें वा आर्यसमाजकी न्याय उपसभा द्वारा उसका न्याय करालें।" महर्षिने

परोपकारिणी-सभाके नाम लिखे गये वसीयतनामे में १२ वीं धारा इस प्रकार लिखी है कि " यदि इस स्वीकारपत्रके विषयमें कोई झगडा उठे तो उसको राजगृहमें न लेजाना चाहिये । किन्तु जहां तक होसके यह सभा अपने आप उसका निर्णय करे । यदि आपसमें किसी प्रकार निर्णय न होसके तो फिर न्यायालयसे निर्णय होना चाहिये ।" यह सब नियम उपनियम आदि महर्षिकी अन्तरात्मा के भावोंको दिखाते हैं । इनसे स्पष्ट है कि महर्षि उन सब बातोंकी आवश्यकता और महत्वको अनुभव करते थे, जिनका प्रचार महात्माजीने ' असहयोग 'के नामसे किया है । यह परीक्षा प्रत्येक आर्यभाई पर ही छोडना उचित है कि वह देखे कि आर्यसमाजने महर्षिके इस आदेश का कहां तक पालन किया और आर्यसमाजके रजिस्टरोंमें नाम लिखाकर महर्षिका अनुयायी बननेका अभिमान करने वालोंने महर्षिके बनाये 'मनुष्यपनरूप-धर्म' का कितना पालन किया ?

महर्षिका अछूतोद्धार या साम्यवाद

महर्षि के जन्म से पहिले भारतीयोंके सामाजिक जीवनमें दो भयंकर अन्याय थे । एक तो उनके प्रति था जो अस्पृश्य कहे जाकर समाज से पृथकसे किये हुये थे और दूसरा स्त्रीवर्ग के प्रति था । आश्चर्य तो यह था कि यह दोनों अन्याय धर्म के नामपर और शास्त्रोंके आधारपर किये जा रहे थे । उस समय की बिगडी हुई आर्य सभ्यता पर यह दोनों अन्याय भारी लांछन थे । न केवल मनुष्य समाज, किन्तु परमात्मा और प्रकृति के विरुद्ध भारी अपराध

थे। महर्षि दयानन्द ने इन दोनों अन्यायोंकी जड में कुठाराघात किया। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' इति श्रुतेः इत्यादि कपोलकल्पित प्रमाणोंकी असत्यता श्रुति और स्मृति के प्रमाणोंसे ही सिद्ध की। आर्यसमाजका सामाजिक संगठन वर्णाश्रम-धर्म पर आश्रित है। इस समय वर्णोंको जाति समझ लिया गया था और उन्हें गुण, कर्म, स्वभाव से न मानते हुये जन्म से मान लिया गया था। महर्षिने इस भ्रमको दूर किया और शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियों से बताया कि वर्णकी व्यवस्था गुण, कर्म स्वभावसे करनी चाहिये, न कि केवल एक विशेष घर, कुल या वंशमें जन्म लेनेसे ही। मनुष्य-समाजमें वर्णव्यवस्था एक तरहका श्रम-विभाग है, न कि किसी प्रकारका जातिगत-विभाग है। जाति तो महर्षिने दो ही मानी हैं। "विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवः" 'उतशूद्रे उतार्ये' आदि वेदके प्रमाणों और 'म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः' "म्लेच्छदेशस्त्वतः परः" इत्यादि मनुकी साक्षियोंसे महर्षिने दिखाया है कि मनुष्य-समाजमें दो ही जातियां है। एकका नाम है आर्य और दूसरीका नाम दस्यु या शूद्र। आर्य नाम धार्मिक, विद्वान, आप्त पुरुषोंका है और इनसे विपरीत जनोंका नाम दस्यु अर्थात डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजोंका नाम आर्य और शूद्रका नाम अनार्य अर्थात अनाडी है। (स० प्र० ८। २३६-३७) श्रुति स्मृतिके यही दो मत मानकर महर्षिने शेष सब जातिभेदोंको कपोलकल्पित, अनावश्यक और हानि-कारक कहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके विभागके विषयमें स्पष्ट ही लिखा है कि "वर्ण-व्यवस्था भी गुण, कर्म, स्वभाव

के अनुसार ही होनी चाहिए।" (स० प्र० ४।८५) इस पक्षके सिद्ध करनेके लिये महर्षिने अनेक वैदिक प्रमाण देते हुये कुछ युक्तियां भी दी हैं। प्रमाणोंका उल्लेख न करते हुये यहां दो तीन युक्तियोंका सारांश ही दिया जाता है। महर्षि लिखते हैं कि "यदि माता पिता या कुलपर ही यह वर्ण-विभाग हो तो क्यों (१) जिसका पिता श्रेष्ठ वह पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ वह पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखनेमें आते हैं?....जो ऐसा न माने उससे कहो कि किसीका पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिताकी दरिद्रावस्थाके अभिमानसे धनको फेंक देवे? क्या जिसका पिता अन्धा हो, उसका पुत्र भी अपनी आंखोंको फोड़ लेवे? जिसका पिता भी कुकर्मी हो उसका पुत्र भी कुकर्म करे? (२) जो कोई रज-वीर्यके योगसे वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण-कर्मोंके योगसे न माने तो उससे पूछना चाहिए कि जो कोई अपने वर्णको छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? जो कहोगे कि उसने ब्राह्मणके कर्म छोड़ दिये, इस लिए वह ब्राह्मण नहीं है। तो इससे यह भी सिद्ध है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्णके गुण, कर्म स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्णमें और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे उसको नीच वर्णमें गिनना अवश्य चाहिए।" (स० प्र० ४।८९) "इस व्यवस्थाका कार्यभार शिक्षाकी समाप्तिके बाद आचार्यपर अथवा, राजसभा व धर्मसभापर डाला गया है।" (स० प्र० ४।८९) वर्णोंके गुण और कर्म लिखनेके बाद महर्षि

लिखते हैं कि "जिस जिस पुरुषमें जिस जिस वर्णके गुण, कर्म हों उस उस वर्णका अधिकार देना, ऐसी व्यवस्था रखनेसे सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णोंको भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे; सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णोंको उत्तम वर्णस्थ होनेके लिये उत्साह बढ़ेगा।" (स० प्र० ४।९१) इस प्रकार महर्षिने शूद्रोंके लिये भी उन्नतिकी राह खोलकर, उन्हें भी वेदादि शास्त्रोंके पढने एवं उपनीत होनेका अधिकार देकर अछूतोद्धारका कार्य इस रूपमें किया कि पुराने विचारोंकी जडोंको ही खोखला कर दिया। भक्ष्याभक्ष्यके प्रकरणमें महर्षिने यहांतक लिखा है कि "आर्योंके घरमें शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री पुरुष पाकादि सेवा करें।" (स० प्र० १०।२७९) अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके घरमें रसोई आदिका काम शूद्र अर्थात् अनपढ स्त्री पुरुषोंके हाथमें सौंपकर महर्षिने यह दिखाया है कि उनके हाथके खान-पानमें कोई पाप नहीं है। जिन्हें इस समय हम इतना परे धकेले हुये हैं वे एक दिन हमारेही घरोंमें हमारी सब प्रकारकी सेवा किया करते थे। महर्षि लिखते हैं कि "जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री पुरुष रसोई बनाने, चौका देने, बर्तन भांडे मांजने आदि बखेडेमें पड़े रहें तो विद्यादि शुभ गुणोंकी वृद्धि कभी नहीं हो सके।" (स० प्र० १०।२८४) अछूतोद्धारके सम्बन्धमें महर्षिके इतने उच्च और पवित्र विचार थे। यही उनका साम्यवाद था कि वे किसीको जन्मके कारणही बडा या छोटा न मानते थे। उनकी समाज-रचनामें प्रत्येक मनुष्य समाजका

सेवक है। ब्राह्मण अपने ज्ञानसे, क्षत्रिय अपने बल-पौरुषसे, वैश्य धन-धान्य व सम्पत्तिसे और शूद्र (अनपढ होनेसे) तीनोंकी नौकरी आदिके श्रमसे समाजकी सेवा करनेवाले सब सेवकही हैं। ब्राह्मणका संचित ज्ञान, क्षत्रियका संचित बल और वैश्यका संचित धन-धान्य आदि सब राष्ट्रहीके लिये था, व्यक्तिके लिये नहीं। यह एक श्रम विभाग है। राष्ट्रकी सेवामें अपना अपना हिस्सा अपने अपने ढंग—गुण, कर्म, स्वभाव—से अदा किया जाता है। साम्यवादका शुद्धतम रूप इस वर्ण-व्यवस्थामें स्पष्ट दीख पडता है। वर्ण-व्यवस्थाके इसी गुण, कर्म, स्वभावके सिद्धान्तके पुनर्जीवित करनेमेंही महर्षिके अछूतोद्धार और साम्यवादका महत्व जान पडता है! उन्नतिका द्वार प्रत्येकके लिये खुला है। ज्ञान, बल और धन-धान्यके संचय करनेकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये प्रत्येकको स्वतन्त्रता है, किन्तु कार्यक्षेत्रमें आतेही प्रत्येकको यह अवश्य ठहराना पडता है कि वह किस ढंगसे राष्ट्रकी सेवा करता हुआ उसके (राष्ट्रके) ऋणसे उऋण होगा। महर्षिकी समाज-रचनाकी विशेषता यही वर्ण-व्यवस्था थी और उस वर्ण-व्यवस्थाकी विशेषता भी यही सिद्धान्त थे।

महर्षिकी शिक्षा-प्रणालीकी राष्ट्रीयता

महर्षिने प्राचीन वैदिक गुरुकुल-शिक्षाप्रणालीका प्रतिपादन किया है। 'सत्यार्थप्रकाश'के दूसरे और तीसरे समुल्लास शिक्षा और पढने पढानेके ही सम्बन्धमें हैं। इन दोनों समुल्लासोंमें उन्होंने शिक्षा पर विस्तृत विचार किया है। माता, पिता और आचार्य (गुरु) तीनोंको शिक्षक बताया है। माता-पिताकी सन्तानको

शिक्षित करनेकी जिम्मेदारी तभीसे शुरु हुई समझी जाती है, जबसे वे पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छासे गर्भाधान करते हैं। महर्षिने लिखा है कि 'धन्य वह माता है कि जो गर्भाधानसे लेकर जबतक पूरी विद्या न हो तबतक सुशीलताका उपदेश करे।'........ 'बालकोंको माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अंगसे कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे तब उसकी माता बालककी जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके, वैसा उपाय करे।......................जब वह कुछ कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बडे, छोटे, मान्य, पिता, माता, राजा, विद्वानसे भाषण, उनसे वर्तमान और उनके पास बैठने आदिकी भी शिक्षा करे जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होकर सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे।............ जब पांच पांच वर्षके लडका लडकी हों तब देवनागरी अक्षरोंका अभ्यास करावें। अन्य-देशीय भाषाओंके अक्षरोंका भी। उसके बाद................व्यवहारकी बातोंके मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्यभी अर्थसहित कण्ठ करावे।' इसी प्रकार वीर्यकी रक्षा, ब्रह्मचर्यके पालनकी शिक्षाके देने पर भी महर्षिने बहुत जोर दिया है। फिर लिखा है कि "जन्मसे ५वें वर्षतक बालकोंको माता, ६ठे वर्षसे ८वें वर्षतक पिता शिक्षा करे और ९वें वर्षके आरम्भमें द्विज अपने सन्तानोंका उपनयन करके आचार्य-कुलमें अर्थात जहां पूर्ण विद्वान और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों वहां लडके और लडकियोंको भेज दें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यासके लिये गुरुकुलमें भेज दें।" यह दूसरे समुल्लास

में लिखी गई उनकी शिक्षाप्रणालीकी कुछ सारभूत बातें इतनी स्पष्ट हैं कि इनपर टीका करना व्यर्थ है। फिर तीसरे समुल्लासमें वे लिखते हैं कि 'इस लिये आठ वर्षके हों तभी लडकोंको लडकोंकी और लडकियोंको लडकियोंकी पाठशालामें भेज देवें।..........विद्या पढनेका स्थान एकान्त देशमें होना चाहिये और वे लडके और लडकियोंकी पाठ-शाला दो कोस एक दूसरेसे दूर होनी चाहिए, जो वहां अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों वे कन्याओंकी पाठशालामें सब स्त्री और पुरुषोंकी पाठशाला में पुरुष रहैं। स्त्रियोंकी पाठशालामें पांच वर्षका लडका और पुरुषोंकी पाठशालामें पांच वर्षकी लडकी भी न जाने पावें।..........पाठशालाओंसे एक योजन अर्थात चार कोस दूर ग्राम व नगर रहे। सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जावें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हों, चाहे दरिद्रके सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिये। उनके माता पिता अपने सन्तानोंसे वा सन्तान अपने माता पिताओंसे न मिल सकें और न किसी प्रकारका पत्र-व्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्तासे रहित होकर केवल विद्या बढानेकी चिन्ता रक्खें।" यह सब बातें भी बहुत स्पष्ट हैं और इस समयके शिक्षा-प्रेमियोंका झु-काव भी इन्हींकी ओर दिन प्रति दिन हो रहा है। शिक्षाके सम्बन्धकी प्रारम्भिक आवश्यक बातें यही हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि महर्षि शिक्षा के विषयमें अच्छी गहराई तक पहुंचे हुये थे। इसीके साथ यह जानकर कि महर्षि बाधित शिक्षाके विषयमें क्या कहते हैं, पाठकोंको अवश्य विस्मय होगा। आजसे लगभग आधी शताब्दि पहिले महर्षि

लिखते हैं कि "इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पांचवें व आठवें वर्षसे आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घरमें न रख सकें। पाठशालामें अवश्य भेज देवे, जो न भेजे, दण्डनीय हो।" (स० प्र० २।३३) इस प्रकार महर्षि बाधित शिक्षाके अत्यन्त प्रेमी और पक्के हामी थे। महर्षिकी शिक्षा प्रणाली के विषयमें इतना ही लिखना पर्याप्त है, विशेषके लिये 'सत्यार्थप्रकाश' का दूसरा और तीसरा समुल्लास पूरा पढ़ना चाहिये। यह यह लिखना आवश्यक है कि महर्षिकी शिक्षा-प्रणालीका आधार है ब्रह्मचर्याश्रम, इसलिये महर्षिकी शिक्षामें ब्रह्मचर्य-व्रतके पालन करने की शिक्षा मुख्य और प्रधान है। इस शिक्षाकी जिम्मेदारी महर्षिने माता, पिता और गुरु तीनोंपर समान रूपसे डाली है। जाति और राजा दोनों बाधित शिक्षाके सिद्धान्तको क्रियामय बनानेके लिये उत्तरदाता हैं। शिक्षाकी राष्ट्रीयताके बड़े सिद्धान्त है, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन, बाधित शिक्षा, समान रहन सहन, समान व्यवहार इत्यादि इन्हींपर महर्षिने अधिक जोर दिया है।

महर्षिकी राष्ट्रभाषा 'आर्यभाषा'

ऊपर लिखा गया है कि 'माता बालकको जब कि वह पांच वर्षका हो तभीसे देवनागरी अक्षरोंका अभ्यास कराये। अन्य देशीय-भाषाओंके अक्षरोंका भी।' इसीसे स्पष्ट है कि महर्षि अपने देशकी भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी ही समझते थे। महर्षिने अपने सब ग्रन्थ आर्यभाषा-नागरी (हिन्दी)में लिखे हैं। पंजाब प्रान्तमें

थोड़े बहुत भी हिन्दीके प्रचारका श्रेय महर्षिको ही है। आर्यसमाज की सर्वसाधारण-भाषा वे आर्यभाषा नियत कर गये हैं। आर्यसमाजके पहली बार बम्बईमें निर्धारित किये गये नियमोंके ५वें नियममें स्पष्ट ही लिखा है कि "प्रधान समाजमें वेदोक्त धर्मानुकूल संस्कृत और आर्यभाषामें सदुपदेशके लिये नाना प्रकारकी पुस्तकें रहेंगी। और एक 'आर्यप्रकाश' साप्ताहिक पत्र निकलेगा।" इसी प्रकार लाहौर में बनाये गये उपनियमोंमें भी सब आर्यसमाजियोंके लिये आर्यभाषा सीखना अत्यावश्यक ठहराया गया था। उनके जीवनकी एक घटनासे उनका आर्यभाषासे प्रेम बहुत स्पष्ट हो जाता है। "हरिद्वारमें एक दिन महाराज अपने आसनपर बैठे सत्संगियोंको समझा रहे थे। बीचमें एक सज्जनने निवेदन किया 'यदि आप अपनी पुस्तकोंका अनुवाद कराकर फारसी अक्षरोंमें छपवा दें तो पंजाब आदि प्रान्तों में जो लोग नागरी अक्षर नहीं जानते उनको आर्य धर्मके जाननेमें बड़ी सुविधा हो जाय।' महाराजने उत्तर दिया 'अनुवाद तो विदेशियोंके लिये हुआ करता है। नागरी अक्षर थोड़े दिनोंमें सीखे जा सकते हैं। यह आर्यभाषाका सीखना भी कोई कठिन काम नहीं है। फारसी और अरबीके अक्षरोंको छोड़कर ब्रह्मावर्तकी सभ्य भाषा ही आर्यभाषा है। यह अति कोमल और सुगम है। जो इस देशमें उत्पन्न होकर अपनी भाषाके सीखनेमें कुछ भी परिश्रम नहीं करता, उससे और क्या आशा की जासकती है? उसमें धर्म लग्न है, इसका भी क्या प्रमाण है? आप तो अनुवाद की सम्मति देते हैं परन्तु दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब काश्मीरसे कन्याकुमारी तक और अटकसे कटकतक नागरी अक्षरोंका ही प्रचार होगा। मैंने

आर्यावर्त भरमें भाषाका ऐक्य संपादन करनेके लिए ही अपने सकल ग्रन्थ आर्यभाषामें लिखे और प्रकाशित किये हैं।" (श्रीमद्दया० ३६४) क्या इस घटनाके पढनेके बाद इसमें कुछ भी सन्देह रह जाता है कि महर्षि सारे देशकी एक भाषा राष्ट्रभाषा बननेका सेहरा आर्य भाषा (हिन्दी)के ही माथे बांध गये हैं। वे पहिले भारतीय हैं जिन्हों-ने संस्कृतकी अपनी विद्वत्ता और गुजरातकी अपनी प्रांतीयताके अभिमानकी बलि राष्ट्रीयताके लिये देते हुये राष्ट्रभाषाके लिये सतत और सक्रिय उद्योग किया। यह भी उनके स्वदेशी व्रत, स्वदेशी प्रेम और राजनीतिक दूरदर्शिताको स्पष्ट करनेके लिए प्रबल और पुष्ट साक्षी है।

इन सब राजनीतिक विचारोंके साथ शुद्धि-आन्दोलनके सम्ब-न्धमें भी उनके विचारोंका दिखाना इस लिये आवश्यक प्रतीत होता है कि यह आजकलका जीवित और प्रमुख आन्दोलन है। इस वि-षयपर भी बहुत थोड़े ही में विचार करेंगे।

महर्षिका शुद्धि-आन्दोलन

यह इस समय किसीसे छिपा नहीं है कि वर्तमान अंगरेजी सरकारकी अत्यन्त कूटनीतियोंमें एक नीति भारतवासियोंको अंग-रेज बनानेकी थी। इसी कुटिल नीतिसे ही यहां अंगरेजी-शिक्षा-प्रणालीका सूत्रपात किया गया। ईसाई धर्मप्रचारकोंकी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सहायता की गई। लार्ड मेकाले भारतमें प्रचलित शिक्षा-प्रणालीके समर्थकोंमें एक प्रमुख व्यक्ति हैं। उनके लेखोंमें स्पष्टही

लिखा है कि "We must do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern; a class of persons Indian in blood and colour, but English in taste, in opinions, words and intellect. अर्थात् हमें अपने सब यत्न इस ओर लगा देने चाहियें कि इस देशमें एक श्रेणी (जमात) ऐसी पैदा कर दें जो हमारे और उन करोडोंके बीचमें मध्यस्थका काम करे जिनपर हम शासन करेंगे। यह श्रेणी भले ही हाड मांस और रुधिरमें भारतीय हो, पर आचार-विचार, रहन-सहन और सोच-समझमें अंगरेज हो।" इसी प्रकार १८३६ में अपने पिताको एक पत्र में यह दिखाते हुये कि अंगरेजी शिक्षासे किस प्रकार हिन्दुओंकी अपने धर्म परसे श्रद्धा उठती जाती है उसने लिखा था कि "No Hindu who has received an English education ever remains sincerely attached to his religion, some continue to profess it as a matter of policy, but many profess themselves pure Deists and some embrace Christianity. 'It is my firm belief that if our plans of education are followed up there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal thirty years hence.' अर्थात् "जो भी हिन्दू अंगरेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है वह अपने धर्ममें सच्ची श्रद्धा खो बैठता है। कुछ लोग केवल दिखानेके लिये उसे मानते हैं परन्तु अधिकतर शुद्ध एकेश्वरवादी और कुछ ईसाई हो जाते हैं। यह मेरा पक्का विश्वास है कि यदि शिक्षाकी हमारी योजना का पूरा अनुसरण किया गया तो अबसे ३० वर्ष बाद बंगालके अच्छे

घरानोंमें एक भी मूर्त्तिपूजक हिन्दू न रहेगा।" जहां एक ओर ऐसी योजनायें तैयार की जा रही थीं, वहां दूसरी ओर युवक ईसाई मिशनरी भी यहां यही निश्चय करके आ चुके थे कि ३२ वर्षमें सारे भारत देशको पूरा ईसाई बना देंगे। अपने निश्चयके अनुसार उन्होंने मद्रास, बंगाल और दक्षिण भारतमें काम भी शुरू कर दिया था। बडे बडे नामी विद्वान् ईसाई मतकी दीक्षा ग्रहण करते जा रहे थे। यह एक बडी पाश्चात्य लहर थी, जिससे भारतके धर्म, सभ्यता व राष्ट्रीयताको भारी धक्का लगनेकी पूरी सम्भावना थी और इस लहरने युरोप व अमेरिकाके सभी प्रदेशोंमें एक साथ उटकर भारत पर भारी हमला किया था। कुछ सौ वर्ष पहिलेकी मुसलमानी सभ्यताकी लहरके आक्रमणोंके परिणाम आंखोंके सामने थे ही। उन सबको देखते हुये महर्षिने इस लहरके मुकाबिलेकी पूरी तैय्यारियां कीं। सचमुच हिन्दू सभ्यता, हिन्दी राष्ट्रीयता और हिन्दी धर्म कहीं ढूंढे भी न मिलते, यदि महर्षि दयानन्दने शुद्धिके आन्दोलनको न उठाया होता। महर्षिकी शुद्धि—आर्यसमाजके बम्बईमें बनाये गये नियम १७ के अनुसार—दो प्रकारकी थी। वह नियम इस प्रकार है कि "इस समाजमें स्वदेशके हितार्थ दो प्रकारको शुद्धिके लिये प्रयत्न किया जावेगा। एक परमार्थ दूसरे व्यवहार—इन दोनोंका शोधन तथा सब संसारके हितकी उन्नति की जायगी।" महर्षिके सारे लेख देख जाइये उनमें यही लिखा मिलता है कि 'प्रथम अपने दोष देख निकालके पश्चात दूसरेके दोषोंको दृष्टि देके निकाले।' (स० प्र० अनु० ४२०) यही परमार्थ-शुद्धि या अन्तः-शुद्धि थी। इसीसे प्रेरित होकर महर्षिने अपने देशके मत-मतान्तरों और सम्प्रदायोंकी तीव्र

आलोचना और भयंकर खण्डन किया। ईसाई लोग इन मत-मतांतरों और सम्प्रदायोंकी बुराइयां दिखाकर ही लोगोंको बहकाया करते थे, महर्षिने उन सबकी स्वयं समीक्षा की और ईसाइयोंके दांवको निकम्मा किया। दूसरी व्यावहारिक शुद्धि दूसरोंको अपनेमें लेने या मिलानेकी थी। इसीको सामने रखते हुये महर्षिने लिखा था कि "देखो! तुम्हारे सामने पाखण्ड मत बढते जाते हैं, ईसाई मुसलमानतक होते जाते हैं। तनिक भी तुमसे अपने घरकी रक्षा और दूसरोंको मिलाना नहीं बन सकता। बने तब जब तुम करना चाहो।" (स०प्र० ११।४११) आर्य-समाजको इस प्रकार महर्षिने अपने घरकी रक्षा करनेके काममें लगाया, भारतके धर्म, सभ्यता और राष्ट्रीयताको डूबते डूबते बचाया। सारा हिन्दू समाज मुक्त कण्ठसे आज महर्षि व आर्यसमाजके इस उपकारका आभार मान रहा है। श्रीमान मदनमोहन मालवीय थोडेसे आर्य-समाजियोंके इस कार्यकी प्रशंसा करते हुये उसके अनुकरण करनेकी सलाह हिन्दुओंको देते हैं। महर्षिका शुद्धिका आन्दोलन स्वदेशके हितार्थ और संसारके हितकी उन्नतिके लिये था, न कि परस्पर द्वेष फैलाने और लडाई बखेडा पैदा करनेके लिये। यदि इस समय इस आन्दोलनका कुछ बुरा परिणाम हुआ है तो इसी लिये कि हम महर्षिके इन शब्दोंको भुला चुके हैं कि 'प्रथम अपने दोष निकालके फिर दूसरोंके दोष देखो।' यदि शुद्ध अन्तरात्मासे देश व संसारके हितके लियेही इस आन्दोलनमें प्रवृत्त हुआ जाय, तो सम्भव नहीं कि उससे कुछ भी द्वेष, वैमनस्य और लडाई झगडा पैदा हो। इस लिये महर्षिके शुद्धि आन्दोलनके लिये पहिले आत्मशुद्धिही करनी चाहिये।

महर्षिकी उज्वल देशभक्ति और उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावनाका परिचय दिलानेके लिये कुछ आवश्यक और प्रासंगिक विषयोंपर उनके विचार दिखा दिये गये हैं। आइये, इसी दृष्टिसे 'आर्यसमाजकी स्थापना'के विषय पर भी थोडासा विचार करें।

आर्यसमाजकी स्थापना

महर्षिने 'सत्यार्थप्रकाश'के ग्यारहवें समुल्लासमें ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाजकी समीक्षाके बाद आर्यसमाजके विषयमें जो शब्द लिखे हैं वे बहुत ही ध्यानसे पढ़ने योग्य हैं। यह पीछे लिखा जा चुका है कि महर्षिने ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियोंमें स्वदेशभक्ति की न्यूनता, अपने देशकी प्रशंसा और पूर्वजोंकी बडाईका अभाव; अपने देशके रहन सहन, भाषा और सभ्यतासे उपेक्षा एवं घृणा तथा आर्यावर्तके विद्वानोंकी प्रशंसा न करके युरोपियनहीकी स्तुति करनेका पक्षपात और खुशामद आदि दोष दिखाये हैं। इन दोनोंको दिखानेके बाद उन्होंने आर्यसमाजके विषयमें लिखा है कि 'आर्यसमाजके साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्यों कि हम और आपको अति उचित है कि जिस देशके पदार्थोंसे अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धनसे सब जने मिलकर प्रीतिसे करें। इसलिये जैसा आसर्यमाज आर्यावर्त देशकी उन्नतिका कारण है वैसा दूसरा नहीं हो सकता।' इससे स्पष्ट है कि महर्षिने आर्यावर्त देशकी उन्नतिके लिए आर्यसमाजकी स्थापना की और यह भी स्पष्ट है कि जो दोष उन्होंने ब्राह्म-

समाजी और प्रार्थनासमाजी लोगोंमें दिखाये हैं वे आर्यसमाजी लोगोंमें (महर्षिके आदेशके अनुसार) नहीं होने चाहिए। प्रत्येक आर्यसमाजीका अंतःकरण स्वदेशभक्तिमें ओत-प्रोत होना चाहिए अपने देशकी प्रशंसा और पूर्वजोंकी बडाईके भावोंसे उसका हृदय भरा होना चाहिये। अपने देशके रहन सहन, भाषा और सभ्यतासे उसको पूर्ण प्रेम होना चाहिये। अपने देशके महापुरुषोंको छोडकर व्यर्थ ही में दूसरोंकी स्तुतिके पक्षपात और खुशामदमें उसे न उतर पडना चाहिये। यदि कोई आर्यसमाजी इनमेंसे किसी एकके भी विरुद्ध आचरण करता है और उस देश की—जिसके पदार्थोंसे उसका शरीर बना है, पलता है और भविष्यमें भी पलेगा—उन्नतिमें तन मन धन नहीं लगा देता है तो वह आर्यसमाजके उज्वल नामपर और महर्षिकी उज्वल कीर्तिपर, सन्देह नहीं कि, धब्बा लाता है। निस्सन्देह, आर्यसमाजकी स्थापनाका उद्देश्य केवल आर्यावर्त देशकी उन्नति बताना आर्यसमाजके गौरवको घटाना है किन्तु यह कहना कि आर्यसमाज तो सार्वभौम संस्था है उसका आर्यावर्तकी एकदेशीय स्वदेशभक्ति राजनीति आदिसे क्या सम्बन्ध, आर्यसमाजके गौरवके लिये और भी अधिक घातक है। महर्षिके संसारके उपकारका काम व्यक्तिकी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नतिसे शुरु होता है। (आर्यसमाज नियम ६) अर्थात् व्यक्तिकी अपने आत्मा, शरीर और समाजकी दृष्टिसे उन्नति महर्षिके संसारके उपकारकी इकाई है। व्यक्तिके बाद समाज, समाजके बाद देश या राष्ट्र और उसके बाद फिर संसार—यह महर्षिके कार्यका क्रम मालूम होता है। यदि 'सत्यार्थप्रकाश' के लेखके अनुसार केवल आर्यावर्तकी उन्नतिका

कारणही आर्यसमाज होता तो वे संसारका उपकार करनेका दावा आर्यसमाजके नियमोंमें न करते। ऐसे ही यदि नियम ६ के अनुसार केवल संसारका उपकार करना ही आर्यसमाजका काम होता और आर्यावर्तके एकदेशीय विषयोंसे उसका कुछ भी सम्बन्ध न होता तो वे 'सत्यार्थप्रकाश'में इस बातका दावाही न करते कि जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देशकी उन्नतिका कारण है वैसा दूसरा नहीं हो सकता और न वे ब्राह्मसमाजियों और प्रार्थनासमाजियोंमें स्वदेशभक्तिकी न्यूनता आदि दोष दिखाते, न वे मूर्तिपूजा आदि की परीक्षा देशकी हानि आदि राष्ट्रीय दृष्टियोंसे करते, न वे स्थान २ पर अपने ग्रन्थोंमें देशभक्ति स्वराज्य आदिकी ही चर्चा करते, न वे नष्ट हुये भारतीय धन-धान्य, सुख-समृद्धि और अपने राज्यके लिये दुःख और उसके पुनः प्राप्त करनेकी इच्छा ही प्रगट करते और न वे यहही लिखते कि "हम और आपको अति उचित है कि जिस देशके पदार्थोंसे अपना शरीर बना, अब भी पालन होता, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धनसे सब जने मिलकर प्रीतिसे करें।" यह कुछ परस्पर विरोधी नहीं है किन्तु इसका अर्थ यही है कि व्यक्तिसे समाज व राष्ट्र और राष्ट्रसे संसारका उपकार करना महर्षिके कार्यका क्रम है। जिस मनुष्यने अपनी उन्नति नहीं की है वह अपने समाज या राष्ट्रकी क्या उन्नति कर सकता है और जिस समाज या राष्ट्रने अपनी उन्नति नहीं की है वह संसारके उपकारका क्या दावा कर सकता है? आर्यसमाजके बम्बईमें निर्धारित नियमोंमें पहिलाही नियम यह है कि 'सब मनुष्योंके हितार्थ आर्यसमाजका होना आव-

श्यक है।' इस नियममें सब मनुष्योंके हितका उल्लेख करते हुये नियम १७में 'स्वदेशके हितार्थ' दो प्रकारकी शुद्धिका उल्लेख किया गया है। नियम ११में साप्ताहिक अधिवेशनोंमें सामवेदके गान, परमेश्वर, सत्य धर्म और सत्य उपदेशके साथ सत्यनीतिके विषयमेंही बाजे आदिके साथ गान और इन्हीं विषयोंपर मन्त्रोंके अर्थ और व्याख्यान आदि होनेका आदेश किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि सब मनुष्योंके हित या सारे संसारके उपकारका आदर्श सामने रखकर हम स्वदेश या आर्यावर्तकी उन्नतिकी ओरसे दुर्लक्ष्य नहीं कर सकते। यहां इतनाही दिखाना अभीष्ट है कि महर्षिने आर्यसमाजकी स्थापना उस देशकीही उन्नतिकी राष्ट्रीय भावनासे की थी जिसके पदार्थोंसे हम सबके शरीरका पालन हुआ, होता और भविष्यमेंभी होगा और इसी लिये उनका यह दावा था कि 'जैसा आर्यसमाज आर्यावर्तकी उन्नतिका कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।'

महर्षिके जीवनपर एक राष्ट्रीय दृष्टि

महर्षिके राष्ट्रीय विचारोंको इतने विस्तारसे दिखानेके बाद आवश्यकता नहीं कि उनके जीवनपर राष्ट्रीय दृष्टिसे कुछ अलग लिखा जाय। क्योंकि महर्षि वे महापुरुष थे जिनका लक्षण संस्कृत कविने यह किया है कि "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।" जिस प्रकारके राजनीतिक विचार उन्होंने प्रगट किये हैं, उनके अनुकूलही उन्होंने कार्यभी किया है। वैसे तो उन्होंने सारी आयु ही देशवासियोंकी भलाईके लिये अर्पण कर दी थी और सारे देशमें एक कोनेसे

दूसरे कोने तक (मद्रासकी ओरका प्रदेश छोड़कर) वे घूम गये थे, किन्तु उनके राजनीतिक कार्यका लक्ष्य देशी राज्य या रियासतें थीं। वे अपने लेखके अनुसार अपने स्वदेशीय राज्य (रियासतों)को ही सर्वोपरि मानते थे। उन्होंने अपने कार्यका श्रीगणेश देसी राज्योंसे किया। 'सत्यार्थप्रकाश' उदयपुर राज्यमें बैठकर लिखा और वहीं पूरा किया। और तो और, एक देशी राज्यमें ही देशी नरेशकी भलाई करते हुये ही अपनी इस जीवन-लीलाको समाप्त किया। यह बिना संकोच कहा जा सकता है कि राजनीतिक दृष्टिसे देसी राज्योंका महत्व जानकर उनके नरेशोंको ठीक राहपर लानेका विचार और व्यावहारिक यत्न आजतकके भी देशहितैषी महापुरुषोंमें महर्षि दयानन्दनेही किया। महर्षि जिस किसी रियासतमें गये, वहांके नरेशको उसके कुकर्म और व्यभिचार आदिके लिये अच्छी तरह फटकारा और सन्मार्गका राह दिखाते हुये उसे राजधर्म और प्रजाधर्मका उपदेश किया। कभी किसी नरेशकी धमकीके भय अथवा धन-धान्य या ऐश्वर्यके प्रलोभनमें वे नहीं फंसे और अपने मार्गसे रत्तीभर भी नहीं डगमगाये। जोधपुर-महाराजको नन्हीजान वेश्याकी पालकीमें हाथ लगाते देखा तो उसको वहीं सबकी उपस्थितिमें कहा कि "राजन! राजा लोग सिंह-समान समझे जाते है। स्थान स्थानपर भटकनेवाली वेश्या कुतियाके सदृश हैं। वीर शार्दूलका कृपण कुतियापर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है, आर्य जातिकी कुल मर्यादाके विपरीत है। केसरीकी कन्दरामें ऐसी कलमष कलुषित कुक्कुरीके आगमनका क्या काम है? इस कुव्यसनके कारण धर्म कर्म भ्रष्ट हो जाता है। मान मर्यादाको बट्टा लगता है। इस पाप-सोपानपर प्रथम

पदार्पण करतेही पुनः पद पदपर पुरुषका अधःपतन आपही आप होता चला जाता है। इस दुर्व्यसनको तिलांजलि दे देनी चाहिये।" (श्रीमद्दया० ५११) इसी प्रसंगमें महर्षिने महाराजा प्रतापसिंहको एक पत्र (आ० बदी तृतीया १९४० को) लिखा था। पत्र अत्यन्त भावपूर्ण है। उन्होंने लिखा था कि:—

"श्रीयुत मान्यवर शूर महाराजा श्री प्रतापसिंहजी!

"आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा महाशय के दृष्टिगोचर भी करा दीजियेगा। मुझे इस बातका बहुत शोक होता है कि श्रीमान जोधपुराधीश आलस्य आदिमें वर्तमान हैं। और आप तथा बाबा महाशय रोगी शरीर वाले हैं। इस राज्यमें १६ लाखसे अधिक मनुष्य बसते हैं। उनके रक्षण तथा कल्याण का बडा भार आप लोग उठा रहे हैं। उनका सुधार बिगाड भी आप तीन महाशयोंपर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीरकी रोगसे रक्षा करने और आयु बढानेके कामपर बहुत अल्प ध्यान देते हैं। यह बात कितनी बडी शोचनीय है।

"मैं चाहता हूं कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुधार लें, जिससे मारवाडका तो क्या अपने आर्यावर्त देशभरका कल्याण करनेमें आप लोग प्रसिद्ध हो जायँ। आप जैसे योग्य पुरुष जगत्में बहुत थोडे जन्मते हैं और जन्मकर भी बहुत स्वल्प आयु भोगते हैं।

"इसके हुये बिना देशका सुधार कभी नहीं होता। आप जैसे पुरुष जितना अधिक जियें उतनी ही अधिक देशोन्नति होती है

इसपर आप लोगोंको ध्यान अवश्य देना चाहिये। आगे जैसी आप लोगोंकी इच्छा हो।"

ऊपरका पत्र पूरा इसी लिये दिया गया है कि इस पत्रसे महर्षिके देशी राज्योंमें किये गये प्रयत्नों और देशी नरेशोंको सन्मार्ग पर लानेके उद्योगका अर्थ सहजमें समझा जा सकता है। इस पत्रसे स्पष्ट है कि 'आर्यावर्त देशभरके कल्याण' और 'देशके सुधार'की इच्छासे ही प्रेरित होकर उन्होंने देशी नरेशोंके सुधारका कार्य किया था।

इसी प्रकार उदयपुरके राज्यमें महर्षि प्रायः इसी प्रकारका उपदेश महाराणा सज्जनसिंहको दिया करते थे। एक दिन महाराणा साहबने अकेलेमें महर्षिसे कहा कि "भगवन्! आप मूर्ति-पूजाका खण्डन छोड दें। यह राजनीतिके सर्व-संग्रह सिद्धान्तके प्रतिकूल है। यदि आप ऊपरकी बातें स्वीकार करलें तो एकलिंग महादेवके महन्त की गद्दी आपकी है। वैसे तो यह राज्य भी उसी मन्दिरके समर्पित है, परन्तु मन्दिरके नाम जो राज्यका भाग लगा हुआ है, उसकी लाखोंकी आय है। इतना भारी ऐश्वर्य आपका हो जायगा। सारे राज्यके आप गुरु माने जायेंगे।" इसपर भी स्वामीजी झुंझलाकर बोले "आप मुझे तुच्छ प्रलोभन दिखाकर परमात्मदेवसे विमुख किया चाहते हैं। उसकी आज्ञा भंग करना चाहते हैं। राणाजी! आपके जिस छोटेसे राज्य और मन्दिरसे मैं एक दौड लगाकर बाहिर जा सकता हूं, वह मुझे अनन्त ईश्वरकी आज्ञा-भंग करनेके लिये विवश नहीं कर सकता। परमात्मदेवके परम प्रेमके सामने, इस मरुभूमिकी

मायाविनी मरीचिका अति तुच्छ है । लाखों मनुष्योंके विश्वास केवल मेरे भरोसेपर निर्भर हैं । मुझे ऐसे शब्द कहनेका फिर कभी साहस न कीजियेगा । मेरे धर्मकी ध्रुव धारणको धरा-धाम और आकाशकी कोई भी वस्तु डगमगा नहीं सकती ।" (श्रीमद्दया० ४८४) एक बार काश्मीरके महाराजकी ओर से पं. मनफूल साहेबने भी ऐसी ही कुछ बातें कहीं थीं । तब भी स्वामीजीने यही कहा था कि "मैं लोगोंको या महाराजा साहब काश्मीरको प्रसन्न करूं या ईश्वरीय आज्ञाका पालन करूं ।" इन दो तीन उदाहरणोंसे यही बताना अभीष्ट है कि महर्षिके सामने ऐसे ऐसे अनेक प्रलोभन रखे गये थे और विशेषतः देशी नरेशोंकी ओरसे । किन्तु फिर भी वह अपने विश्वासकी चट्टानपर अटल रहे । आर्यावर्तके कल्याण और देशके सुधारका कार्य उन्होंने मृत्यु-पर्यन्त नहीं छोडा । स्वामीजीके ही प्रयत्नोंका फल था कि देवनागरीमें उदयपुर राज्यका सब कारोबार होने लगा । उनकी प्रबल अभिलाषा थी कि राज्यके सब श्रीमानोंके लडकोंकी एक अलग पाठशाला हो, जिसमें शास्त्र-विद्याके साथ शस्त्र-विद्या भी अवश्य सिखाई जाय । इधर स्वामीजी रियासतसे चले आये, उधर राणा बीमार पड गये । फिर किसने इस ओर ध्यान देना था ? इसी तरह जयपुर, शाहपुरा, बनेडा, भरतपुर, रीवां, ग्वालियर, धौलपुर, करौली, इन्दौर, आदि राजस्थान व मध्यभारतकी प्रायः सभी रियासतोंमें वे घूमे और वहांके नरेशोंको सन्मार्गपर लानेका यथाशक्ति यत्न किया । काशी-नरेशका दरवाजा भी उन्होंने स्वयं काशी पहुंचकर कई बार खटखटाया । इन्दौरके महाराज स्वामीजीसे इतने प्रभावित थे कि सन १८८७ के देहली दरबारके समय उन्होंने तथा दो एक अन्य नरे-

शोंने यह उद्योग किया था कि सब देशी नरेशोंको एक जगह इकट्ठा करके स्वामीजीका क्षात्र धर्मपर उपदेश कराया जाय। इन्दौर-नरेश और उनके साथियोंकी यह इच्छा पूरी न हुई।

बम्बई में एक बार कई सहस्र मनुष्योंका उपस्थितिमें महर्षिने देशी नरेशोंकी अवनतिका कारण बताते हुये बडे जोरसे कहा था कि 'इस देशके राजाओंकी अवनति और ह्रासका कारण उनके मूर्ख और दुष्ट मन्त्री हैं। यदि हमारे राजाओंकी ऐसी दशा और बुद्धि न होती तो आज हमारी और हमारे देशकी भी यह दीन और हीन दशा न होती। वास्तवमें इस देशकी अवनति और पतनका कारण ऐसे ही राजे और रईस हैं जो रात दिन प्रजाके धनको नाच तमाशों और व्यर्थ कामोंमें उडाते रहते हैं। वे अपनी शारीरिक शक्ति और मानसिक स्मृतिको खोकर किसी कामके नहीं रहते। इनके प्रमाद और अनभिज्ञतासे राज्यके प्रबन्धमें बडी अव्यवस्था हो जाती है और फिर नित्य नये नये बखेडे पैदा होते रहते हैं।' अपने इसी विश्वासके अनुसार उन्होंने देशके राजाओं और रईसोंको नाच तमाशोंसे ऊपर उठाकर सदाचारी बनानेका भरसक यत्न किया। वे प्रायः कहा करते थे कि 'हिन्दू राज्योंकी दशा अत्यन्त शोचनीय है। वे कभीके नष्ट भ्रष्ट हो गये होते परन्तु जितने या जो कुछ भी बचे हुये हैं वे उनकी रानियोंके पातिव्रत-धर्मसे बचे हुए हैं, अन्यथा यदि राजाओंके कर्मोंपर निर्भर होता तो कभीका बेडा डूब गया होता।' देसी राज्योंकी रक्षा और उनकी समृद्धिमें ही भारत के अभ्युदयका विश्वास उन्हें देसी राज्योंके सुधारके लिये इतना प्रेरित किये हुये था। उनकी जीवनीसे यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना

सर्वस्व देशी राज्योंके अर्पण कर दिया था। उनके कार्यका केन्द्र स्थान देशी राज्योंका केन्द्र 'अजमेर' शहर था। वहीं उनका वैदिक-यन्त्रालय था। 'परोपकारिणी-सभा'की स्थापना उन्होंने उदयपुरमें ही की थी। उदयपुर-नरेशको उसका अध्यक्ष बन कर दूसरे पदाधिकारी भी राजस्थानके राज्योंके प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति ही नियत किये थे। इस प्रकार महर्षिके कार्यका राजनीतिक महत्व यही था कि उन्होंने देसी राज्योंके सुधार, उद्धार और अभ्युदयके लिये जितना उद्योग किया उतना आजतक भी किसी दूसरे महापुरुषने नहीं किया है।

आज यह स्वीकार करते हुये दुःख होता है कि महर्षिने देशी नरेशोंपर जो विश्वास किया और उनसे जो आशा रखी, वह सर्वथा असत्य सिद्ध हुई। राजा और रईस अपने प्राचीन गौरवको तो भूले ही थे किन्तु उन्होंने अपने समयके अद्वितीय महापुरुषकी शिक्षा, दीक्षाको भी बिल्कुल भुला दिया। अंग्रेजी शासकोंकी विरोधी शक्तियोंने विजय प्राप्त की। उन्हें पाश्चात्य सभ्यताकी मनोमोहक चमकीली चमक दमकके प्रलोभनोंमें डालकर व्यसनी, व्यभिचारी और पतित बनानेके रहस्य दिन प्रतिदिन स्वयं ही खुलते जा रहे हैं और साथ ही राजनीतिकुशल महर्षिकी देशी राज्योंके सम्बन्धमें आधी शताब्दि पहिले कही गई बातें सत्य सिद्ध हो रही हैं। इससे भी अधिक दुःखकी बात यह है कि महर्षिके बादके राजनीतिज्ञोंने इस रहस्यको नहीं समझा और देसी राज्योंको भारतीय राजनीतिसे इतना और ऐसा पृथक कर दिया कि विदेशी सरकारको देसी राज्योंमें मनमाना खेल खेलनेका निर्बाध और अमर्याद अवसर मिल गया। देशके राजनीतिक नेता निकट भविष्यमें

ही इस उपेक्षाका फल देखेंगे कि भारतकी राजनीतिक समस्या कितनी जटिल और विकट हो जायगी। अस्तु।

न केवल देसी राज्योंके कार्योंसे ही उनके कार्यका राजनीतिक महत्व जान पड़ता है किन्तु बृटिश भारतमें भी उन्होंने राजा और प्रजाके धर्मपर अनेक व्याख्यान दिये। श्री स्वामी सत्यानन्दजीने 'श्रीमद्दयानन्द प्रकाश' (पृष्ठ ४८१)में लिखा है कि "वे जाति और देशकी उन्नतिके विषयोंपर भी ओजस्विनी और तेजस्विनी भाषामें प्रभावशाली भाषण दिया करते थे। उनके भाषणोंको सुनकर श्रोताओंमें ऊष्मा भर जाती थी, उनका साहस बढ जाता था, उत्साह उमड आता था, हृदय उछलने लगता था, अंग फड़क उठते थे और जातीय जीवनका रक्त खौलने लग जाता था, परन्तु किसी मनुष्य और जाति-विशेषके लिये मनमें घृणा और द्वेष उत्पन्न नहीं होता था। उनकी उदात्त नीतिमत्ता और राष्ट्र-सुधारके विचार सिद्धान्त-रूपमें प्रकाशित होते थे। वे दार्शनिक भावको लिये होते थे और सबपर घट जाते थे। महाराजने स्वराज्य और स्वायत्त शासनके सार-मर्मके कुछ एक सूत्र, और अति स्पष्ट सूत्र 'सत्यार्थप्रकाश'में उस समय लिखे थे जब यहां जातीय महासभाका जातकर्म भी न हुआ था; शासन-सुधारवादियोंने स्वराज्य शब्दका अभी स्वप्न भी नहीं देखा था। महाराजके समय, भारतीयोंकी राष्ट्रनीति अभी नव-जात बालिका थी; दुधमुंही बच्ची थी; पालनेमें पडी अंगूठा चूस रही थी। नीति-निपुण मुसलमान सज्जन उसे अछूत समझते और उससे बडे अन्तरपर रहते थे। थोडे से आर्य लोग थे जो कभी कभी दो एक बार उसे व्याख्यान-भवनोंके हिण्डोलेमें डालकर

अपने धुआंधार भाषणोंके दो चार छिलोडे दे छोडा करते थे। उनके भाई बन्धु भी बहुतेरे ऐसे थे जो मीठी मीठी लोरियों और कोमल कोमल थपकियोंसे उसे सुलाये रखनेमें ही तत्पर थे। राष्ट्र-जागृति और जातीय जीवनके ऐसे बाल-कालमें श्री स्वामीजी का बलाढ्य शब्दोंमें, ओज और ऊष्मा-पूर्ण भाषामें, स्वायत्त शासनका समर्थन करना, उसे परम सुखदायक बताना इस बातका उज्वल और ज्वलन्त उदाहरण है कि उनके राष्ट्रनीति सम्बन्धी विचार पूर्ण प्रगतिको पाये हुये थे; परम और चरम लक्ष्यको परि-लक्षित कर चुके थे। उनके विशाल हृदयमें भारतकी प्रजाका हित कूट कूटकर भरा हुआ था। उनके अन्त:करणमें, मस्तकमें, अ-स्थिमें, मज्जामें, एक एक रक्त-बिन्दु और नाडी नसमें भारतके कल्याणकी निष्कलंक कामना, उत्कृष्ट उत्कर्षको पहुंच चुकी थी। समय आयगा, जब भारतकी भावी सन्तति, अपने जातीय मन्दि-रोंमें स्वायत्त शासनकी देवीका पूजन करनेसे पूर्व, उसे पहिले पहिल आहून करनेवाले देव-स्वरूप दयानन्दका प्रथम अर्चन किया करेगी।"

इन शब्दोंमें तिलमात्र भी अत्युक्ति नहीं है। उनके राष्ट्रीय जीवनकी झलक उस समय दीख पड़ती है जब कि सन् १८८७ में उन्होंने दिल्ली-दरबारके अवसरपर अपने निवासस्थानपर देशके प्रमुख व्यक्तियोंको इकट्ठा करके उनके सामने यह प्रस्ताव रखा कि परस्परके भेदभाव, द्वेष और कुटिलताको दूर करना चाहिये और धार्मिक विरोधको दूर करके उपद्रव व अशान्तिकी जड़ ही काट डालनी चाहिये जिससे एक-लक्ष्य होकर सब मिलकर देशके सुधार और कल्याणमें लग सकें। परन्तु सभामें कुछ निर्णय न हो सका। इ

सभाके लिये महर्षिने उस समयके प्रायः सभी बड़े बड़े लोगोंको निमन्त्रित किया था। उनमेंसे कुछ एकके नाम हैं (१) मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी (२) बाबू नवीनचन्द्र राय (३) बाबू केशवचन्द्र सेन (४) मुंशी इन्द्रमणि (५) ऑनरेबल सर सैय्यद अहमदखां और (६) बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि। इसी प्रकार महर्षिने यत्न किया कि थियोसोफिकल सोसाइटीके साथ मिलकर कार्य करें परन्तु जब उनको उसके कार्यमें थोड़ीसी भी शंका पैदा हुई तब वे तुरन्त अलग हो गये। उन्होंने अपने अलग होनेके कारणोंमें यह भी एक कारण बताया है कि "जब अपने देशमें सब सत्यविद्या, सत्यधर्म, ठीक ठीक सुधार और परमयोगकी सब बातें थी और अब भी हैं तब विचारिये कि थियोसोफिस्टोंको एतद्देशवासियोंके मतमें मिलना चाहिए या आर्यावर्त्तियोंको थियोसोफिस्ट होना चाहिए।" अपने देशके मत के प्रेम और अभिमानसे भरे हुए महर्षि किसी विदेशी मतके सामने झुक ही कैसे सकते थे?

जब महर्षि उदयपुरमें थे तब एक दिन मोहनलाल विष्णुलाल पंड्याने उनसे कुछ राष्ट्रीय चर्चा की थी। उस चर्चासे महर्षिकी राष्ट्रीयताका पता लगता है। पंड्याजीने महर्षिसे पूछा कि "भगवन, भारतका पूर्ण हित कब होगा? यहां जातीय उन्नति कब होगी?" महर्षिने उत्तर दिया कि 'एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारतका पूर्ण हित और जातीय उन्नतिका होना दुष्कर है। सब उन्नतियोंका केन्द्रस्थान ऐक्य है। जहां भाषा, भाव और भावनामें एकता आ जाय, वहां सागरमें नदियोंकी भांति, सारे सुख एक

एक करके प्रवेश करने लग जाते हैं। मैं चाहता हूं कि देशके राजे महाराजे अपने शासनमें सुधार और संशोधन करें। अपने राज्यमें धर्म, भाषा और भावोंमें एकता उत्पन्न कर दें, फिर भारतभरमें आप ही आप सुधार हो जायगा"। फिर पंड्याजीने महर्षिसे प्रार्थना की कि "जब आपका उद्देश्य और आदर्श एकता सम्पादन करना है तो आप मत-मतान्तरोंका कठोर खण्डन क्यों करते हैं? इससे तो उलटा वैर विरोध और वैमनस्य बढता है।' महर्षिने उत्तर दिया कि 'एक तो मेरा धार्मिक लक्ष्य सार्वजनिक है। उसे संकुचित नहीं किया जा सकता। दूसरे, भारतवासी लम्बी तानकर ऐसी गहरी नींदमें सो रहे हैं कि मीठे शब्दोंसे तो आंखतक खोलनेको भी समुद्यत नहीं होते। सुधारका तो ये नामतक नहीं लेते। कुरीतियों और कुनीतियोंके खण्डनरूप कडे कोडेकी तडातड ध्वनिसे यदि ये जग जांय तो ईश्वरका कोटि कोटि धन्यवाद करूंगा।" इसके बाद महर्षिने फिर कहा कि "धर्मगुरुओं और सामाजिक नेताओंकी असावधानी, प्रमाद और आलस्यसे भावना, भाव और भाषा आदि एकताके चिन्ह बदल जाते हैं। जातिके आचार विचार परिवर्तित हो जाते हैं। रहन सहनके ढंगोंमें भेद आजाता है। ठीक ऐसाही समय अब इस देशपर उपस्थित है। यदि सम्भाला न गया तो आर्य जाति परिवर्तनके चंचल चक्रपर चढकर अतिशय उतावलीसे अपने पूर्व पवित्र स्वरूपको परिवर्तित कर डालेगी। इसके पिछले प्रमादके कारण करोडों मनुष्य मुसलमान बन गये। अब प्रतिदिन ईसाई बनते चले जा रहे हैं। ऐसे समयमें तो अपने स्वधर्म बन्धुओंको कडे हाथसे उनकी चोटियां पकडकर भी जगाना होगा। भाई, यह कटु कर्तव्य

में कोई अपने स्वार्थके लिये तो पालन नहीं कर रहा हूं। मुझे तो इसके कारण अवहेलना, निन्दा, कुवचन, ईंट-पत्थर और विषही स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु बन्धु-वात्सल्यकी भावना मुझे विपत्तियोंके विकट और जटिल जालमें समाजसुधारके लिये प्रोत्साहित कर रही है।" पण्ड्याजीने हाथ जोडकर कहा कि "महाराज! यदि दो चार धर्माचार्यभी आपके विचारके हो जायें तो स्वल्प समयमेंही आर्यजातिका बेडा पार होसकता है।" (श्रीमद्दया० ४८४).

यह बातचीत महर्षिके अन्तःकरणकी भावनाका चित्र है। उनका अन्तःकरण उत्कृष्ट-राष्ट्रीय-भावना व उज्वल देशभक्तिका स्रोत था। कष्टोंका उन्हें भय नहीं था। राज, जायदाद और पदका उन्हें कोई प्रलोभन नहीं था। निन्दा, तिरस्कार और घृणा से उन्हें कभी दुःख नहीं हुआ। श्री स्वामी सत्यानन्दजीकी भावनामेंही कहना अच्छा है कि अमृतकी खोजमें जंगल, पहाड और नदियोंके स्रोतोंको खोज डालना और अपनी आयुका बडा हिस्सा घोर तपस्यामें बिताना उनके जीवनको श्रीरामके बनवास सेभी बढकर बना देता है। आत्माको अजर, अमर और अविनाशी मानकर हमेशा लोकसेवाके मैदानमें डटे रहना कुरुक्षेत्रमें गीताका उपदेश करते हुये श्रीकृष्ण महाराजको आंखोंके सामने ला खडा करता है। भगिनी और चाचाकी मृत्युसे प्रभावित होकर घरसे विवाहकी तय्यारियों व समारोहमेंसे भाग निकलना और अपने जीवनको ब्रह्मसमाधिमें लगाकर मृत्युंजय पदको पानेके लिये अमृतकी खोज करना भगवान बुद्धकी बोधीवृक्षके नीचेकी समाधिको

सहसा याद दिलाता है। दीन दुःखियों, अपाहजों और अनाथोंके लिये आंसू बहाते हुये महर्षि क्राइस्ट जान पडते हैं। शास्त्रार्थकी वेदीपर खडे हुये और धुंआधार भाषण करते हुये वे आचार्य शंकर दीख पडते हैं। एकेश्वरवाद और वैदिक-सार्वभौम भ्रातृत्वका उपदेश करते हुये मुहम्मद-साहब प्रतीत होते हैं। भक्ति और ध्यान में मग्न उनमें सन्तवर रामदास, कबीर, दादू, चेतन, तुकाराम आदि सभी भक्तोंकी प्रतीती होने लगती है। देशकी दुर्दशासे सन्तप्त हुये जब वे राजनीतिका उपदेश करते हुये स्वराज्य,साम्राज्य व चक्रवर्ती राज्यकी चर्चा करते हैं और अपने देशी नरेशों व रईसोंके पतन व अवनतिसे सन्तप्त हुये वे उनके सुधारकी चेष्टा करते हैं तब आर्यावर्तके संरक्षक, आर्य संस्कृतिके उद्दीपक और आर्यत्वके पालक वे प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह और श्री छत्रपति शिवाजी महाराज मालूम होते हैं। एक बार उनसे एक कलैक्टरने उनका भाषण सुननेके बाद स्पष्टही कहा था कि "यदि आपके भाषणपर लोग चलने लग जांय, तो इसका यह परिणाम निकलेगा कि हमें अपना बधना-बोरिया बांधना पडेगा।" (श्रीमद् या० ४२१) दुःखकी बात यही है कि महर्षिकी इस राष्ट्रीय भावना को उनके अनुयायी आर्य समाजीही नहीं समझ सके हैं, फिर वे जो न महर्षिको जानते हैं, न उनसे प्रेम रखते हैं और न उनकी शिक्षा या दीक्षासे शिक्षित या दीक्षितही हुये हैं, उनकी राष्ट्रीय भावनाको क्या जानेंगे और क्या पहिचानेंगे ?

महर्षिके जीवनकी विशेषता

महर्षिपर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वे असहिष्णु (Intolerant) थे। यदि असहिष्णु शब्दके अर्थका सम्बन्ध शरीर, मन, आत्मासे हो तो एक क्षणके लिये भी यह आरोप स्वीकार नहीं किया जा सकता है। आत्मबलिदान, सहनशीलता, निर्ममता, अहिंसा और प्रेमकी वे मूर्ति थे। यदि असहिष्णु शब्दका अर्थ दूसरेपर बलात्कार कर अपनी बात मनवानेका हो, तो भी यह आरोप स्वीकार नहीं किया जा सकता।'सत्यार्थप्रकाश'में उन्होंने इस बलात्कारका प्रतिवाद किया है। पृष्ठ ५५१ पर उन्होंने बहुतही स्पष्ट लिखा है कि "यह लेख इस लिये लिखा है कि जो जो भलाई है, वही भलाई और जो बुराई है, वही बुराई सबको विदित होवे, न कोई किसीपर झूठ चला सके और न सत्यको रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने वा माने, किसीपर बलात्कार नहीं किया जाता।" उनके जीवनमेंसे एक भी घटना ऐसी नहीं मिल सकती, जिससे उनपर इस तरहका बलात्कार करनेका दोषारोप किया जा सके। उनके कार्य की शैली तो यही थी कि पहिले अपने दोषोंको देखकर उनको दूर किया जाय, फिर दूसरेपर अंगुली उठाई जाय। वे लिखते हैं कि "यही सज्जनोंकी रीति है कि अपने व पराये दोषोंको दोष और गुणोंको गुण जानकर गुणोंका ग्रहण और दोषोंका त्याग करें।" (सत्यार्थ० ५५२) इसी तरह वे अन्यत्र लिखते हैं कि "जबतक वादी प्रतिवादी होकर प्रीतिसे वाद या लेख न किया जाय, तब-

तक सत्यासत्यका निर्णय नहीं हो सकता।" इतना लिखते हुये और अपने जीवनमें भी अहिंसा, प्रेम और शान्तिकी प्रतिमा होते हुये भी महर्षिपर यदि असहिष्णु होनेका दोषारोप किया जाय तो उसका अर्थ समझना कठिन है। राज-प्रकरणमें भी उन्होंने बहुत स्पष्ट लिखा है कि "सब लोग सर्वहित करनेके लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त कामोंमें अर्थात जो जो निजके काम हैं उन उन में स्वतंत्र रहैं" (सत्या० ६।१४४) इस प्रकार अपनी राजनीतिमें भी महर्षि सबको धर्मयुक्त—धार्मिक—कामोंमें स्वतन्त्रता देते हुये भी यदि असहिष्णु कहे जा सकते हैं, तो यह आश्चर्यही है। आर्यसमाजका दसवां नियम इतनी व्यापक सहिष्णुता लिये हुये है कि उतनी कदाचित ही किसी और संस्थाके नियमोंमें पाई जाय। नियम यह है कि "सब मनुष्योंको सामाजिक सर्वहितकारी नियमपालनमें परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियममें सब स्वतन्त्र रहें।" समाज, जाति या राष्ट्रके कार्यमें मनुष्यको उसके (कामके) आधीन रखते हुये निजू कार्योंमें पूर्ण स्वाधीनता देना ही सहिष्णुता है। इसी सहिष्णुताकी आधारशिलापर आर्यसमाजका भवन खड़ा किया गया है। इसपरभी महर्षिको असहिष्णु मानना उनके प्रति अन्याय है। हां यदि असहिष्णु शब्दका अर्थ बुराईको सहन नहीं करना है तो यह सहर्ष स्वीकार किया जा सकता है कि महर्षि असहिष्णु और सोलह आना असहिष्णु थे। उनके लिये वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक था। वेदानुकूल सचाइयां जो दूसरोंमें थीं, उनको उन्होंने सिर माथे रखा और बिना संकोच स्वीकार किया। 'सत्यार्थप्रकाश'की भूमिकामें ही उन्होंने लिखा है "जैसा मैं पु-

राण, जैनियोंके ग्रन्थ, बाइबिल और कुरानको प्रथम ही बुरी दृष्टिसे न देखकर उनमें गुणोंका ग्रहण और दोषोंका त्याग तथा अन्य मनुष्य जातिकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करता हूं, वैसे सबको करना चाहिये।' दोषोंका त्याग, बुराईका बिना किसी शर्तके प्रतिवाद और असत्यका बिना किसी समझौतेके तिरस्कार ही उनके जीवनकी असहिष्णुता है। यही असहिष्णुता महर्षिके जीवनकी विशेष उत्कृष्टता है। संसारका कोई भी भय, लोभ, मोह और माया उनकी इस उत्कृष्टता पर दाग नहीं लगा सके। लोकमान्य तिलकके लिये भारतमें जैसे विदेशी सत्ता असह्य थी और महात्मा गान्धीके लिये जैसे हिन्दू समाजकी अस्पृश्यता (छुआछूत) पाखण्ड है, वैसेही महर्षिके लिये प्रत्येक दोष, बुराई वा असत्य, चाहे वे राष्ट्रीय थे या सामाजिक, पाखंड थे। उन्होंने अच्छी तरह सोच और समझ लिया था कि "विदेशियोंके आर्यावर्तमें राज्य होनेका कारण आपसकी फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्यका सेवन न करना, विद्या न पढना पढाना वा बाल्यावस्थामें अस्वयंबर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेदविद्याका अप्रचार आदि कुकर्म हैं।" (स० प्र० १०।२८०) इन कुकर्मोंके प्रति महर्षि असहिष्णु थे। इनका खण्डन उन्होंने उसी आशयसे किया था जिसे उन्होंने श्रीयुत मोहनलाल पण्ड्यासे बातचीत करते हुये प्रगट किया था। यह असहिष्णुता महर्षिके जीवनका दूषण नहीं, भूषण है। यही विशेषता उनके जीवनकी उत्कृष्टता है।

महर्षिके जीवनकी दूसरी विशेषता यह थी कि उन्होंने धर्मके नामसे सारे देशको एक करनेका उद्योग किया। उनका ज्ञान केवल अपने देशके ज्ञानपर निर्भर था। उनकी विद्वत्ता अकेली संस्कृत

भाषाके द्वारा ही सम्पादन की हुई थी। महर्षिके विषयमें यह कहना कठिन है कि उन्होंने कितने ग्रन्थ पढे थे। 'भ्रान्तिनिवारण'में उन्होंने लिखा है कि "मैं अपने निश्चय और परीक्षाके अनुसार ऋग्वेदसे लेकर पूर्वमीमांसा-पर्यन्त अनुमानसे लगभग तीन हजार ग्रन्थोंको मानता हूं।" इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि जब तीस हजार ग्रन्थ वे प्रामाणिक मानते थे, तब ऐसे भी सैंकडों ग्रन्थ उन्होंने देखे होंगे जिनकी परीक्षाके बाद उनको असत्य ठहराया होगा। अपने ज्ञान, विद्वत्ता और योग्यताकी कसौटीपर सब बातोंकी परख करनेके बादही वे इस परिणामपर पहुंचे थे कि धर्म के सिवाय कोई दूसरा केन्द्र नहीं जिसपर सबको इकट्ठा किया जा सके। इसी लिये उन्होंने सब धर्मके आधार वेदके केन्द्रमें सबको लाकर बिठानेका निरन्तर उद्योग किया। इतिहासपर गहरी दृष्टि डालकर उन्होंने देखा कि वेदके ही स्रोतसे सब मत-मतान्तर व सम्प्रदायोंके नदी नले बह निकले हैं, इस लिये सबकी फिर स्रोत की ओर वापिस ले चलना चाहिये। प्रो० मैक्समूलरने महर्षिके कार्यको थोडे शब्दोंमें बताते हुये लिखा है कि उनकी शिक्षा यही थी कि "Go back to the Vedas." 'वेदोंकी ओर वापिस लौट चलो।' जहांसे मार्ग-भ्रष्ट होनेपर यह सब मतभेद पैदा हुये हैं, वहीं पहुंचकर सब एक हो सकेंगे ऐसा महर्षिका विश्वास था। साथ ही महर्षि यह भी समझते थे कि आर्यावर्तके लोग सिवा वेदके दूसरी बात नहीं मानेंगे। उन्होंने ब्राह्मो-समाज और प्रार्थना-समाजके विषयमें लिखते हुये लिखा है कि 'तुम लोग वेदमें शंका करते हो, इसी बातसे तुमको आर्यावर्तीय लोग अपने नहीं समझते और तुम

आर्यावर्तकी उन्नतिके कारण भी नहीं हो सके।.................... जिस देशको रोग हुआ है उसकी औषधि तुम्हारे पास नहीं और युरोपियन लोग तुम्हारी अपेक्षा नहीं करते और आर्यावर्तीय लोग तुमको अन्य-मतियोंके सदृश समझते हैं। अब भी समझकर वेदादि के मान्यसे देशोन्नति करने लगो तो भी अच्छा है।' बात तो यह है कि महर्षिके लिये अपने देशके अतीत गौरवकी श्रद्धा ही उनका वर्तमान देश-प्रेम था। अपने अतीत गौरवका अभिमान, अपने पूर्वज ऋषि मुनियोंमें श्रद्धा; अपने प्राचीनम पुस्तक वेदोंमें निष्ठा इत्यादि गुण उनके भूषण थे और इन्हीं गुणोंने उनमें देशप्रेम व राष्ट्रभक्ति पैदा करनेका उद्योग किया था।

महर्षिके उत्कृष्ट खण्डनात्मक कायसे चाहे मतभेद भी रखा जाय, किन्तु यह स्वीकार करना ही पडेगा कि इस समय तक जो भी थोडा बहुत धर्म-सुधार व सामाजिक उन्नतिका कार्य हुआ है, उसका सब श्रेय महर्षिके खण्डनात्मक कार्यको ही है। महर्षिने जब कडी आलोचना की तब सबमें यह प्रवृत्ति पैदा हुई कि वे अपने धर्म-ग्रन्थोंकी अश्लीलता, अव्यावहारिकता और सृष्टिक्रमकी प्रतिकूलता इत्यादि दोषोंको दूर करते हुये अपने स्वरूपको भी उतना ही उज्वल बतायें जितना कि महर्षिने वेदादि ग्रन्थोंका बताया था। इसी प्रवृत्तिने लोगोंमें अपने अपने धर्मके प्रति विश्वास श्रद्धा और लगन पैदा की और इसीसे निर्जीव या मृतप्राय जीवनमें चेतना आई। सबने इकट्ठे बैठकर आपसमें विचार-विनिमय करना और एक दूसरेको समझना शुरु किया। इसीका परिणाम इस समयकी थोडी बहुत धार्मिक सहिष्णुता है। आज भिन्न भिन्न मतों व सम्प्रदायों,

के लोग किसी एक लक्ष्यके लिये इकट्ठे हो सकते हैं, यह सन १८८७ के समयके महर्षिके यत्नोंका ही विस्तृत परिणाम है। जिसे बुरा बताया जाता है, उसी बुराईके गर्भमेंसे इस भलाईने जन्म ग्रहण किया है और आज सब सम्प्रदायों, मतोंके लोग अपनी अपनी समाजकी सामाजिक उन्नतिके लिये भरसक चेष्टा कर रहे हैं। आर्यसमाजपर नाना प्रकारके लांछन लगाते हुये भी यह मानना ही पड़ेगा कि संगठनका पाठ दूसरोंको आर्यसमाजनेही सिखाया है। सभासदोंके लिये कुछ नियमोंको मानना और आयका शतांश ही देते हुये, चाहे वह सौ रुपया हो या एक रुपया अथवा चार आना, सबका समान अधिकार रहना यह आर्यसमाजके संगठनकी विशेषता है। अब दूसरोंने भी इसका अनुकरण करना शुरू किया है। संगठनके साथ साथ सामाजिक सुधारके जितने भी कार्य हैं, उन सबका उद्गम-स्थान आर्यसमाजका क्रियाशील जीवन है। निश्चय ही देशके राष्ट्रीय जीवनका जन्म जिस प्रकार आर्यसमाजके संस्थापक महर्षिसे ही हुआ है, उसी प्रकार उसका केन्द्र भी आर्य समाज ही होता यदि आर्य भाई महर्षिकी उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावना और उज्वल देशप्रेमको समझते हुए सामाजिक सुधारोंमें भी आगे बढनेमें कभी आगा पीछा न करते। अस्तु

इस प्रकरणको यहीं समाप्त करते हैं। कुछ वर्तमान राष्ट्रीय विषयोंको लेकर महर्षिके लेखों और उनके जीवनकी घटनाओंसे उनके राष्ट्रीय स्वरूपके चित्रको अंकित करनेके लिये खाका खींच दिया गया है। यह खाका सम्मुख रख कर पूर्ण चित्रके तय्यार करनेका काम पाठक स्वयं करें। यदि वे महर्षिके जीवन और लेखोंका

अध्ययन इसी इच्छा और भावनासे करेंगे तो निश्चय ही अपने कार्यमें वे सफल होंगे और बिना किसी कठिनाईके 'दयानन्द-दर्शन' करते हुये महर्षिके राष्ट्रीय स्वरूपकी सर्वांगसुन्दर प्रतिमाका चित्र अपने हृदयोंमें अंकित वे कर सकेंगे ।

(३)

महर्षि, लोकमान्य और महात्मा

देशसेवामें तन, मन, धन अर्पण करने वाले महापुरुषोंकी तुलना करना कुछ सहज काम नहीं है, किन्तु कुतूहलपूर्ण अवश्य है। इस समय लेखकोंके लिये यह परिपाटी सी हो गई है कि वे अपने चरित्रनायककी तुलना दूसरे महापुरुषोंसे करते हुये उसे सर्वश्रेष्ठ बतानेका यत्न करते हैं। यह कुछ है भी स्वाभाविक, क्योंकि जिस प्रेम, आदर और श्रद्धाकी दृष्टिसे वे अपने चरित्रनायकको उस समय देख रहे होते हैं, उसीसे उस समय दूसरेको वे देख ही नहीं सकते। बहुत सम्भवतः इन पंक्तियोंका लेखक भी इस नियमकी स्वाभाविक

मर्यादाको न लांघ सके। किन्तु उसका यह विश्वास अवश्य है कि पराधीन देशकी गुलामीकी जंजीरोंको ढीला करने, काटने और खोलनेका यत्न करने वाले सभी महापुरुष वन्दनीय हैं। अपने देशकी पराधीनताको दूर करनेका जिस किसीने भी थोडा बहुत भी यत्न किया है, चाहे अपने ही ढंगसे क्यों न किया हो, श्लाघनीय है। बादलोंकी घनघोर घटामें चमकती हुई बिजली, निरभ्र आकाशमें उदय हुये हुये पूर्णिमाके चन्द्र, वसन्त ऋतुके स्वच्छ आकाशमें प्रकट हुये हुये सूर्य और एक अन्धेरी कोठरीमें टिमटिमाते हुये दियेकी परस्पर तुलना करना जहां अस्वाभाविक है, वहां उनके प्रति अन्याय भी है। भटकते हुये पथिकको तो जिस किसीकी भी रोशनी या चान्दनीसे राह दीख जाय, वही उसीके लिये उस समय मार्गदर्शक है। इसी प्रकार हम भारतीयोंके लिये तो तीनों ही महापुरुष प्रातः स्मरणीय और वन्दनीय हैं। तीनों ही गुलामीके गहरे नशेमें ऊंघते हुये अपने देशवासियोंको जगाने वाले हैं। तीनोंने अपने अपने समयमें चमत्कारिक कार्य किया है। यद्यपि तीनोंकी राजनीतिक मानसिक वृत्ति, सिद्धान्त और विचारोंमें महान अन्तर है, किन्तु फिर भी तीनों ही भारतके राजनीतिक गगनके चमकते हुये सितारे हैं। एकने यदि बादलोंकी घनघोर घटामें चमकती हुई बिजलीका काम किया है, तो दूसरेने बादलोंको चीरकर प्रकट होते हुये चान्दकी तरह राजनीतिक अमृतकी वर्षा की है। एक यदि पूर्णिमाके चान्दकी तरह गगनमण्डलमें प्रकट हुआ है, तो दूसरा बालभानुकी तरह पूर्ण तेज, सामर्थ्य और शक्तिके साथ पूर्व दिशामें उदय हुआ है। महर्षिके समयको यदि वर्तमान

रामायणका बालकाण्ड कहा जाय तो लोकमान्यका समय अयोध्या-काण्डका और महात्मा गांधीका समय युद्धकाण्डके आरम्भका है। महर्षिके समयको वर्तमान महाभारतका बनवासपर्व कहा जाय तो लोकमान्यका समय उद्योगपर्व और महात्मा गांधीका समय भीष्मपर्व का है। महर्षि हल आदि चलाकर स्वराज्यकी भूमिको तय्यार करने वाले हैं, तो लोकमान्य उसमें बीज बखेरने वाले और महात्मा गान्धी उसमें फूटते हुये अंकुरोंकी रक्षा करने वाले हैं। महर्षिने स्वराज्यकी मानसिक भावनाको जन्म दिया, तो लोकमान्यने इसी भावनाकी नींवमें शाब्दिक स्वराज्यकी आधारशिलाकी स्थापना की और महात्मा गान्धीने उसी आधारशिलापर व्यावहारिक स्वराज्यका भवन खडा करना शुरू किया। मनुष्यके जीवनमें जैसे यह नियम है कि 'यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।' वैसे ही राष्ट्रके जीवनमें भी वह लागू होता है। इसके लिये भारतीय राष्ट्रका मन यदि महर्षिकी दिव्यात्मा है, तो उसकी वाणी लोकमान्यकी पुण्यात्मा और उसका कर्म इस समयके सर्वश्रेष्ठ महापुरुषकी महानात्मा है। लडाईके मैदानमें सेनाओंका नियन्त्रण करते हुये सेनापति महात्मा गान्धी हैं, किन्तु उन सेनाओंको तय्यार करने वाले 'रिक्रूटिंग आफीसर' लोकमान्य और महर्षि ही हैं।

इस समय देखने और कहनेको तीनों महापुरुषोंमें बडा अन्तर है और उस अन्तरकी दृष्टिसे देखने वाले व्यक्तियोंको ऊपरकी समानता बहुत सम्भवतः स्वीकरणीय न होगी। किन्तु आवश्यकता है तीनों महापुरुषोंके कार्यके समयकी परिस्थितिको समझनेकी। पीछे यह निर्देश किया जा चुका है कि सन १८५७के भारतीय स्वतं-

न्त्रताके संग्राम या शस्त्र-क्रान्ति (न कि 'गदर' या 'विद्रोह') के समय महर्षि दयानन्द 'अमृतकी खोज'में जंगल जंगल और पहाड पहाडमें भटक रहे थे। सन १८५७ से वस्तुतः भारतके राजनीतिक जीवनमें एक नया युग शुरू होता है। शस्त्र-क्रान्ति निष्फल सिद्ध हो जानेके बाद पराधीनता, नपुंसकता, अकर्मण्यता और जडताका अन्धकारमय युग—वास्तवमें कलियुग—शुरु होता है। पश्चिमके लोग 'बेयोनेट'के बाद बीयर (शराब)और बाईबल—ईसाई मत-के साथ भारतमें आते हैं। एक ओर देशका जीवन नपुंसक, अकर्मण्य, और पाषाणकी तरह निर्जीव होकर सब तरह पराधीन हो जाता है, दूसरी ओर पश्चिमकी ओरसे एक भयंकर आन्धी उठती है जो देशवासियोंके उस समयके निर्जीव और पराधीन जीवनसे पूरा लाभ उठा लेना चाहती है, उनके ममत्वको नष्ट कर उनके रहन सहन, आचार विचार, भाव भाषापर अपनी छाप लगा देना चाहती है। पाठक, थोडी देरके लिए सोचें कि यदि उस समय महर्षि न होते तो क्या भारतके अपनेपनकी कुछ भी रक्षा हो सकती। महर्षि उस समय आये ही अपने देशके उद्धारके लिए थे। उनके लिए यह सम्भव ही न था कि वे 'अमृत'की खोजका काम छोडकर महत्वाकांक्षी लोगोंकी तरह १८५७की शस्त्र-क्रान्तिमें पडकर अपने बहुमूल्य जीवनको पानीके बुलबुलेकी तरह नष्ट कर डालते। महर्षिके कार्यको इसी दृष्टिसे देखना चाहिए और उनका इसीमें आभार मानना चाहिए कि उन्होंने भारतके भारतीयपनके साथ साथ अपने धर्म, अपनी सभ्यता और अपनी राष्ट्रीयताको लुटते लुटते बचाया। यहां उनकी कार्यशैली और विचार-सरणिके विषयमें कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। पिछले

पृष्ठोंमें उसका विशेष खुलासा किया जा चुका है। महर्षिके असली स्वरूपको बतानेके लिये उनको 'देशभक्त-राजनीतिज्ञ-पादरी' कहना अच्छा है। मार्केन लूथरने युरोपको रोमके पोपके चंगुलसे छुटकारा अवश्य दिलाया किन्तु उसने अपने देश या राष्ट्रके प्रति कुछ विशेष कार्य नहीं किया। महर्षिने अपने राष्ट्रको अपने ही राष्ट्रके पोपोंके चंगुलसे छुटकारा तो दिलाया ही, साथमें विदेशी आन्धीके भयंकर और घातक आक्रमणसे भी उसकी रक्षा की और यह सब काम केवल मनुष्य जातिके कल्याण, धर्मके पुनरुद्धार और समाजके सुधार के विचारसेही नहीं किये, किन्तु उत्कृष्ट देशप्रेम और प्रबल राष्ट्रीय भावनासे प्रेरित होकर किये। यही उनकी उस समयके दूसरे धर्माचार्यों, समाज-सुधारकों और मनुष्य जातिके हितकी कामना करने वालोंकी अपेक्षा विशेषता और उत्कृष्टता है। उनकी यही विशेषता और उत्कृष्टता उनको लोकमान्य और महात्मा गान्धीकी श्रेणीमें सबसे पहिले और प्रमुख स्थानमें ला बिठाती है। महर्षिके कार्यको इस दृष्टिसे देखते हुए लोकमान्य और महात्मा गान्धीके कार्यसे उसकी तुलना करनेपर सहजमें ही तीनोंके राष्ट्रीय ध्येयमें समानता दीख पडती है।

यह समानता होते हुये कुछ भिन्नता भी है। वह भिन्नता इस दृष्टिसे नहीं देखनी चाहिये कि एकको छोटा और दूसरेको बडा बताया जाय। वह केवल कुतूहलमय दृष्टिसेही देखनी चाहिये और देखना चाहिये कि एकही लक्ष्य और ध्येयसे काम करनेवाले महापुरुषोंकी मानसिक वृत्तियोंमें कितना अन्तर रहता है! क बातोंमें महर्षि व लोकमान्य बिककुल एकही जान पडते हैं और क

बातोंमें महर्षि व महात्मा बिलकुल एकही दीखते हैं। तीनोंकी मानसिक वृत्तियोंका बडा भेद उन विशेषणोंसे मालूम होता है जो कि उनके नामके साथ प्रायः लगाये जाते हैं। लोकमान्य या हृदय-सम्राट शब्द महर्षि या महात्माके उतने समीप नहीं हैं जितने कि महर्षि और महात्मा परस्पर समीप समीप हैं। इस लिये बाहरी दृष्टिसे भी महर्षि और महात्मा आपसमें एक दूसरेके बहुत समीप जान पडते हैं। समाज-सुधारकोंके क्षेत्रमें दोनोंका प्रायः एक मत है, शास्त्रीय दृष्टिसे मतभेद अवश्य है। सम्पूर्ण आयु किंवा उसके प्रथम भागको ब्रह्मचर्याश्रमके रूपमें संयम-पूर्वक व्यतीत करनेकी आवश्यकता दोनोंने समान रूपमें अनुभव की है। अछूतोद्धारके विषयमें दोनोंका मत एक है, किन्तु विचार-सरणिमें थोडासा भेद अवश्य है। महर्षिने गुण, कर्म और स्वभावसे वर्णकी व्यवस्था मानते हुए जन्मसे माननेकी परिपाटीको बिलकुल उठा ही दिया है और इसी रूपमें अछूतोद्धारका प्रश्न हल किया है। परन्तु महात्माजी जन्मकी परिपाटीका उल्लंघन न करते हुये केवल व्यवहारमेंसे छूआछूत के अन्यायको उठा देना चाहते हैं। विधवा-विवाहके विषयमें महर्षि का यह मत है कि अक्षतयोनि विधवा और अक्षतवीर्य पुरुष पति या पत्नीकी मृत्युके बाद भी कुमारी या कुमारकी तरह ही पुनः विवाह कर सकते हैं। मृत-स्त्रीक पुरुष और विधवा (अक्षतयोनि) का विवाह कुमारी और कुमारसे न होकर, विधवा और मृतस्त्रीक पुरुषके साथ ही होना चाहिये। महर्षिकी दृष्टिमें "यही धर्म है कि जैसेके साथ वैसे ही का सम्बन्ध होना चाहिये।" (स० प्र० ४।११६-१८) महात्मा गान्धी भी बालविधवाओंके पुनर्विवाहके पक्षमें हैं। विधवा

था मृतस्त्रीक पुरुषका ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते हुये संयम-पूर्वक आयु बिताना दोनोंकी ही दृष्टिमें आदर्श है। लोकमान्यका मत इन दोनों विषयोंमें उतना उत्कृष्ट या प्रबल न था। वे अछूतोंसे हार्दिक सहानुभूति अवश्य रखते थे। उन्होंने १८९४ में गणपति-उत्सवमें उस चमारके गणपतिको, जिसे जलूसमें सम्मिलित नहीं किया गया था, अपने गणपतिकी पालकीमें बिठाया था। वे कहा करते थे कि किसी मनुष्यको अछूत समझना परमात्माके प्रति गुनहगार होना है। किन्तु इस विषयमें उन्होंने उस समयकी सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन अपने जीवनमें नहीं किया और न ऐसा करनेका कभी स्पष्ट उपदेश ही किया। विधवा-विवाहके विषयमें उनका यह विचार था कि "विवाह संस्कारकी जिस 'सप्तपदी' क्रियासे 'पाणिग्रहण' पूरा हुआ समझा जाता है, वह सप्तपदी विवाहके अवसरपर न करके गर्भाधानके समय होनी चाहिये और उसी समय विवाह पक्का समझना चाहिये।" इस तरह इस विषयमें भी उन्होंने वर्तमान विवाह-पद्धतिका विरोध न करते हुये केवल संस्कारमें एक परिवर्तनकी आवश्यकता बतलाई थी। समुद्रयात्राका विषय भी समाज सुधारसे विशेष सम्बन्ध रखता है। महर्षि इसके सम्पूर्णतः पक्षमें थे, चाहे वे कभी विदेश नहीं गये। महात्माजी भी विदेशयात्राको कोई पाप नहीं मानते और वे विदेश गये भी हैं। लोकमान्य भी विदेश गये किन्तु उन्होंने वहांसे लौटकर प्रायश्चित्त अवश्य किया। लोकमान्यने ही 'केसरी' (१२-१-१९०४)में लिखा था कि 'जिस प्रकार दूसरी बातोंमें हम लोग वैध आन्दोलन करते हैं, वैसे ही सामाजिक बातोंमें शास्त्रोक्त आन्दोलन होना चाहिये।' इस

लिये लोकमान्यने उस समयके प्रचलित शास्त्रोक्त मतके विरुद्ध कभी आचरण नहीं किया।

महर्षि और महात्मामें एक और समानता यह है कि उनके कार्यका क्षेत्र स्वराज्य या भारतकी स्वाधीनता होते हुये भी उनकी दृष्टि जगत्का कल्याण और मनुष्यमात्रकी भलाई है। इसी दृष्टिसे दोनों महापुरुष संसारसे कुछ ऊपर उठे हुये दीख पडते हैं और 'राजनीतिज्ञकी अपेक्षा अधिक धर्माचार्य' जान पडते हैं। राम, कृष्ण शिवाजी और प्रताप आदिकी अपेक्षा बुद्ध, शंकर, रामदास और कबीर आदिकी ओर दोनोंका अधिक झुकाव दीख पडता है। इसी प्रकार आत्मशुद्धि, आत्मसुधार आदिकी आध्यात्मिक बातोंपर महर्षि और महात्मा लोकमान्यकी अपेक्षा अधिक जोर देते हैं।

महर्षि और लोकमान्यमें भी कई समानतायें ऐसी हैं जो महर्षि और महात्मामें नहीं मिलती हैं। महात्मा गान्धीकी अहिंसा की दार्शनिक मीमांसा महर्षि या लोकमान्यसे बिलकुल भी नहीं मिलती है। पीछे दिखाये गये महर्षिके असहयोग या अप्रियाचरणमें अहिंसाकी कोई शर्त नहीं है। सर्वसामर्थ्यसे, जहांतक हो सके वहां तक अन्यायकारियोंके बलकी हानिका उपदेश और राजनीतिके प्रकरणमें सब प्रकारके शस्त्रास्त्र आदिका भी उल्लेख महर्षिने किया है। इस अंशमें महर्षि और लोकमान्य बहुत पास पास या एकमतके ही हैं। लोकमान्यकी प्रतिकार-नीतिकी अनुकूलता महर्षिके लेखोंमें अवश्य मिलती है। 'जैसेको तैसा'की नीतिमें भी महर्षि और लोकमान्य प्रायः एकमत हैं। दोनोंकी

संस्कृतकी विद्वत्ता, प्राचीनतासे प्रेम और वैदिक साहित्यका स्वाध्याय इत्यादि दृष्टि-भेद होते हुये भी प्रायः समान ही हैं, चाहे लोकमान्यको उतने संस्कृत ग्रंथ पढनेका अवसर न मिला हो जितने महर्षिने पढे थे। महर्षि और महात्मामें एक प्राकृतिक समानता यह है कि दोनोंका जन्म एक ही प्रदेश—गुजरात—का है, किन्तु दूसरी वैसी ही प्राकृतिक समानता महर्षि और लोकमान्यमें यह है कि दोनोंका जन्म ब्राह्मण-कुलका है।

बात यह है कि लोकमान्य महर्षि और महात्माके बीचमें एक गांठ हैं। एकको दूसरेसे अलग करते हुये भी मिलाने वाले हैं। तीनोंको राजसी तुलापर तोलें तो महर्षि और लोकमान्य बहुत कुछ बराबर रहते हैं और सात्विक तुलापर तोलेनेसे महर्षि और महात्मा बराबर दीख पडते हैं। महात्मा गान्धी ब्राह्मण-वृत्ति-प्रधान हैं और लोकमान्य क्षात्र-वृत्ति-प्रधान, और महर्षिमें दोनोंका मिश्रण है। महात्मा गान्धी गृहस्थी होते हुये भी सन्यासी हैं, लोकमान्य संन्यासी (देशके लिये सर्वस्व त्याग देने वाले) होते हुये भी गृहस्थी हैं और महर्षि आजन्म ब्रह्मचारी रहते हुये संन्यासी हैं। महर्षिका तपमय सर्वस्व-त्यागका जीवन महात्मा गान्धीके वर्तमान जीवनके समान है। दोनो लंगोटी-बन्द कर्मयोगी हैं। गायकवाड वाडाके लोकमान्य इन दोनोंसे अलग पूनाके एक शनवार वाडाके पेशवाके समान हैं।

अस्तु, चाहे तीनोंमें परस्पर कितनी भी भिन्नता और समानता हो किन्तु तीनों ही अपने अपने समयके अद्वितीय महापुरुष हैं।

गुलाम भारतीयोंके लिये तीनोंही प्रातः स्मरणीय, अनुकरणीय और आदर्श हैं सचमुच देशकाही दुर्भाग्य है। यदि उनमेंसे किसीको बडा और दूसरेको छोटा समझकर देशवासी आपसमें लडते झगडते और परस्पर मतभेद रखते हैं।

(४)

आर्यसमाजी भाइयोंकी सेवामें

महात्मा गान्धीने आर्यसमाज, उसके प्रवर्तक और उसके सर्वमान्य नेता स्वामी श्रद्धानन्दजीपर लिखते हुये जहां उनपर कई एक दोष लगाये थे, वहां उन्हीं दोषोंमें उन्होंने एक बडी सचाई भी लिखी थी। उन्होंने लिखा था कि "जहां जहां आप आर्यसमाजको देखेंगे, वहां वहां चेतना और प्राण दिखाई देगा।" चेतना और प्राण वस्तुतः आर्यसमाजमें हैं। आर्य जीवनका आदर्श ही कुछ ऐसा है कि उसपर आचरण करने वाला चेतनामयी जीवन-शक्तिसे शून्य रह ही नहीं सकता है। महात्माजी द्वारा किये गये आक्षेपोंके प्रति-

वादकी आन्धी इसी चेतना और प्राणकी साक्षी थी। आर्यसमाजको अपने प्रवर्तक द्वारा जो महान् गुण विरासतमें मिले हैं, वे इतने उदात्त, विशाल और व्यापक हैं कि आर्यसमाजको जीवित बनाये रखनेके लिये वे ही बहुत काफी हैं। आर्यसमाज इस समय भी उन्हींकी बदौलत एक 'जिन्दादिल जमात' दीख पडता है। उनके तप और मिशनके बीज ऐसी उपजाऊ भूमिमें डाले गये हैं कि वे फले फूले बिना रह ही नहीं सकते। उनका 'मिशन' फैल रहा है, उनका कार्य हो रहा है। हिन्दू समाजके जीवनमें इस समय एक भयंकर क्रांति मच रही है। अपने पुराने विचारों, पुरानी रूढियों और पुराने जीर्ण धर्माभासोंको सांपकी कांचलीकी तरह हिन्दू-समाज स्वयं छोडता चला जा रहा है। अपनी प्राचीन सभ्यताकी रक्षाके लिये हिन्दू-समाज इस समय बेचैनसा हो रहा है। शुद्धि या अछूतोद्धारका काम भी अच्छे वेगसे आगे बढ रहा है। महर्षिकी राष्ट्रीय भावना भी दिन दूनी रात चौगुनी फल फूल रही है। व्यक्तिगत सुधारकी ओर भी इस समय प्रत्येक व्यक्ति विशेष ध्यान देता हुआ दीख पडता है। बाह्य आडम्बरको छोडकर लोग धर्मके गहरे तत्वकी छानबीन में पहिलेकी अपेक्षा अधिक लगे हुये हैं। विवाहकी प्रथा भी सुधर रही है। ब्रह्मचर्यका महत्व भी दिनपर दिन अधिक अनुभव किया जा रहा है। उपजातियोंके छोटे छोटे भेदभाव दिनपर दिन दूर होते जाते हैं, बडे बडे भेदोंके दूर होनेमें अभी कुछ समय अवश्य लगेगा। भारतपर ईसाई मतका हमला चन्द्रगुप्तपर सिकन्दरके आक्रमणकी तरह निर्वीर्य सिद्ध हो चुका है। आर्य सभ्यताके वारिस इस समय आंखें मल-मलकर ऊंघते हुये उठ रहे हैं और अपनेको

उठाने वालेका शतशः आभार मान रहे हैं। सारांश, यह है कि महर्षिके मिशनने, चाहे आर्य-समाज कुछ ढीला भी क्यों न पड गया हो, हिन्दू समाज और हिन्दी लोगोंमें एक भारी उथल पुथल मचा दी है। निस्सन्देह इसका श्रेय महर्षिको और उसकी संस्था आर्य समाजको है, किन्तु इस समयकी अपनीही ढीलसे आर्यसमाज उस श्रेयसे वंचित हो रहा है।

वह ढील क्या है? वह ढील ऐसी त्रुटियां हैं जिनपर हम आर्यसमाजी भाई कभी विचार करनेका यत्न ही नहीं करते हैं। यदि कभी किसी व्यक्तिने उन त्रुटियोंकी ओर अंगुली भी उठाई कि हम उसकी अंगुलीको ही काटनेके लिये दौडते हैं। एक दो मिनट रुककर उन त्रुटियोंके अस्तित्व, उनके कारण और उन कारणोंके समूल नष्ट करनेके उपायोंपर हम विचार नहीं करते। आत्म-परीक्षाका भाव हम आर्य भाइयोंमेंसे बिलकुल उठ गया है। महर्षिके लेखों के अनुसार अपने गुण दोषकी परीक्षा करते हुये आर्यसमाजके नियम चार कि—"सत्य ग्रहण करने और असत्यके छोडनेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिए"—का पालन करना शब्दोंमें नहीं, किन्तु व्यवहारमें हम निश्चयही भूल रहे हैं। महर्षिका आदेश और उपदेश यही है कि "जो हो परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं कि जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते किन्तु दूसरोंके दोष देखनेमें अत्युद्युक्त रहते हैं। यह न्यायकी बात नहीं, क्योंकि प्रथम अपने दोष देख निकालने पश्चात दूसरेके दोषोंमें दृष्टि देके निकालें।" (सत्या० अनु० ४२०) "जबतक वादी प्रतिवादी होकर प्रीतिसे वाद या लेख न किया जाय तबतक सत्यासत्यका निर्णय नहीं हो सकता।" (सत्या० अनु० ४१९)

आर्य भाई स्वयं विचारें कि क्या आर्य भाई अपने दोषोंकी भी कभी छानबीन करते हैं ! दूसरोंके साथ हमारा वाद (बहस मुबाहसा या शास्त्रार्थ) क्या प्रीति और प्रेमसे होता है ? बात यह है कि 'सत्यार्थ-प्रकाश'के पिछले चार समुल्लास घोटकर 'महामहोपदेक' बननेका अभिमान रखने वाले आर्यसमाजमें दर्जनोंही उपदेशक और भजनीक हैं किन्तु पहिले दस समुल्लासोंके पढने और तदनुकूल आचरण करनेका यत्न करने वाले ढूंढनेपर भी बहुत थोडे मिलेंगे। महर्षिके तर्ककी कोरी नकल करनेका स्वांग भरना हम जान गये हैं, किन्तु श्रद्धा, आदर और प्रेमका पाठ हमने उनके जीवनसे नहीं सीखा है। उनके शब्दोंमें बोलनेकी शेखी हममें अवश्य है किन्तु उनकी तपस्या, स्वाध्याय और ध्यानका हममें अत्यन्ताभाव है। हमारे धर्म कर्मके बहीखातोंमें जबानी जमाखर्च बहुत अधिक है किन्तु बाजारमें उसकी 'साख' कुछ भी नहीं है। हमारे धर्म-कर्मका उधारी हिसाब-किताब बहुत अधिक है किन्तु नरेन्द्र-नारायणकी दृष्टिसे हम उसमें दिवालिये बने हुये हैं। प्रचारकी धूम चारों ओर मचानेके हम आदि हो गये हैं किन्तु आचारमें किसी बातको पूरा उतारना हमें अभीतक भी नहीं आया है। हिन्दू समाज एवं हिन्दी राष्ट्रवासियोंको रूढिकी गुलामीसे छुटकारा दिलानेका श्रेय चारों ओर हाथ फैलाकर हम अवश्य बटोरते हैं किन्तु कितनी ही रूढियोंके गुलाम अभी तक हम स्वयं ही बने हुये हैं। नये विचार व नये अन्वेषणकी जिज्ञासाका हम अपनेको जन्मदाता समझते हैं किन्तु महर्षिके बाद अपने साहित्य को हमने कुछ बढाना तो क्या था, प्राचीन वैदिक साहित्यके अनमोल और अद्वितीय खजानेके मोतियोंको ढूंढ निकालना भी प्रायः बंद

ही कर दिया। यही सब बातें हैं जिन्होंने आर्यसमाजको विधायक कार्यक्रम करने वाली प्रधान संस्था होते हुये भी केवल विध्वंसात्मक काम करने वाली संस्थाका स्वरूप दे दिया है। हमारा धर्म कर्म आर्यसमाज-मन्दिरके लिये रह गया है, घरोंके लिये नहीं। हम सप्ताहके केवल एक दिनके कुछ घण्टोंके लिये आर्यसमाजी हैं, जीवनभरके लिये नहीं। यही कारण है कि आर्यसमाज संस्था या संगठन नहीं रहा किन्तु ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाजकी तरह एक सम्प्रदाय बनता जा रहा है। कुछ दिन बाद आर्यसमाजी भी बौद्ध, जैन, सिक्ख इत्यादिकी तरह एक पन्थके मानने वाले कुछ लोग रह जायेंगे। वैसा ही पाषाणवत निर्वीर्य जीवन आर्यजीवन बन जायगा, जैसा कि महर्षिके आगमनके समय समस्त हिन्दी-राष्ट्रका बना हुआ था।

शब्द कुछ कटु हैं किन्तु सच्चे अवश्य हैं। इस 'ढील'को दिखानेके लिये कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहां दो चार उदाहरण ही देने पर्याप्त होंगे। ऊपरकी बातोंको आर्य भाइयोंके वैयक्तिक जीवनपर घटाइये, फिर उनकी सचाई मालूम होगी। महर्षि, हिन्दू जीवन क्या, समस्त हिन्दी जीवनमें ही भयंकर उथलपुथल मचा देना चाहते थे। सामाजिक क्रान्ति उनके जीवनका लक्ष्य था। जात बिरादरीके छोटे छोटे दायरे तोड़ मरोड़कर उन्हें वे विस्तृत करना चाहते थे। खानपान, विवाह आदिके क्षेत्रको वे सार्वजनिक करना चाहते थे। इस अंशमें यद्यपि आर्यसमाजने थोड़ा बहुत किया है किन्तु महर्षिके दिखाये आदर्शकी ओर हम विना संकोच और बिना हिचकिचाहट, प्रबल इच्छा और वेगवती अभिलाषासे नहीं बढ़े हैं।

आज ऐसे आर्यपरिवार, नहीं नहीं आर्यसमाजी नेता भी—क्या हम पूछ सकते हैं कि—कितने हैं जिन्होंने अपनी सन्तानोंके विवाह जन्मकी जातपांतकी रूढिको तोडकर किये हैं ? विधवा-विवाहका श्रीगणेश आर्यसमाजने अवश्य किया है किन्तु महर्षिके इस धार्मिक आदेशको कि "जैसेके साथ वैसे ही का सम्बन्ध" हमने सर्वथा भुला दिया है। आज कितने ही आर्य पुरुष और आर्य नेता ऐसे हैं कि अपनी एक स्त्रीसे सन्तान रहनेपर भी उसकी मृत्युके बाद दूसरा, तीसरा विवाह कुमारी कन्याओंसे कर बैठते हैं। विवाह संस्कारमें भी केवल तीन या चार घण्टे 'संस्कारविधि'के मन्त्र पढ पढा देनेमें ही 'वैदिक-विवाह-पद्धति'की इतिश्री हुई समझ ली जाती है, चाहे आगे पीछेका सब व्यवहार बिलकुल पुरातन रूढियोंकी लकीरका पीटना ही क्यों न हो ? अनेक विवाहोंमें अभीतक भी नवग्रहपूजा, साया (मुहूर्त), ऊटपटांग सेहरोंका बांधना, वर-कन्याकी जगह आर्यसमाजी पण्डितोंका ही मन्त्र पढना इत्यादि अवैदिक रिवाज किये ही जाते हैं। छूआछूतकी बीमारीसे भी अभी हमारा 'आर्य-जीवन' वैसा नीरोग नहीं हुआ, जैसेके लिये महर्षिने आज्ञा की है। जब कि अभीतक इन सामाजिक गुणोंको ही हमने धारण नहीं किया है, तब प्रतिदिन सन्ध्या, हवन और वेदके पढने पढानेके व्यक्तिगत 'परमधर्म'को हम क्या धारण कर सकते हैं ? न केवल वेद किन्तु महर्षिके ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' आदि भी हमारे लिये मोहर लगे बन्द हुये पडे हैं। जब कि ये छोटी छोटी बातें अभी हम व्यवहारमें नहीं ला सके तब उनके वर्णधर्म (राष्ट्र-धर्म) और आश्रमधर्म (व्यक्तिगत धर्म) की स्थापना तो हमारेसे क्या ही

होनी थी, एवं उनकी राष्ट्रीय भावनाके भी हमने अपनेको क्या अनुकूल बनाना था ? एक ओर व्यावहारिक जीवनमें हम महर्षिसे इतने पिछड गये हैं और दूसरी ओर यदि कोई विचारक वेदोंके विषयमें स्वतंत्र विचार प्रकट करे, वैदिक साहित्यका अनुशीलन करता हुआ महर्षिसे थोडासा भी मतभेद दिखाये और उनसे थोडीसीभी भिन्न दृष्टिसे उनका स्वाध्याय करे तो—एक वेदमंत्रका शुद्ध उच्चारण न कर सकने वाले—उसके विरुद्ध आन्दोलन शुरु कर देते हैं, उसे भला बुरा कहते हुये उसके विरुद्ध व्यवस्था देने लगते हैं और जहां तहांसे उसके प्रतिकूल प्रस्ताव पास करने कराने लगते हैं। वस्तुतः यही असहिष्णुता है; जो भूषण नहीं, दूषण है। एक बडी कमजोरी और 'ढील' है।

आज आर्यसमाज 'जीवन'की खोजके लिये चारों ओर भटक रहा है। सारे हिन्दी राष्ट्रको जीवन व संगठनका पाठ पढाने वाला, चेतना व प्राण की अटूट निधिका दान करने वाला और महर्षि दयानन्द सरीखे अद्वितीय महापुरुषके उत्तराधिकारी होनेका दावा रखने वाला आर्यसमाज—सचमुच अश्चर्य और दुःख है कि—जीवनकी खोजके लिये इधर उधर भटकता फिरता है। कभी अकालियोंकी काली पगडियां, कभी उनके गुरुलंगरों, कभी मनुष्य-गणनाकी संख्याओं, कभी जलूसों व मेलोंकी धूमधाम और कभी दूसरे बाह्य आडम्बरोंके पीछे पागल होकर 'जीवन'की ढूंढ मचाई जाती है। फिर भी 'जीवन' मिलता नहीं। मिले कहांसे ? वह तो अपने अन्दर है, बाहिर नहीं। भगवान् बुद्ध और महर्षि दयानन्दको 'जीवन' किसी पहाडकी खाई, जंगलकी झाडी, नदीके किनारे या चट्टानकी तहमें पडा हुआ नहीं मिला, प्रत्युत अपनी ही आत्मामें

उन्होंने उसे पाया। अज्ञानका परदा आत्माके ऊपरसे हटते ही उन्होंने देखा कि जिसके लिये वे चारों ओर भटके वह उनके ही पास और उनके ही अन्दर था। आर्यसमाजका जीवन भी उसके पास और उसकेही अन्दर है। समयके अनुकूल ऊपर उठने और आगे बढनेकी बात तो अलग रही किन्तु आर्यसमाजने महर्षिका भी साथ छोड दिया है। महर्षि और आर्यसमाजके बीचमें एक खाई पड गई है। उस खाईके किनारे खडा हुआ आर्यसमाज भूलभुलैय्यामें पड गया है। उसकी आंखें चुंधिया रही हैं। किंकर्तव्य विमूढ होकर कभी दांये, कभी बांये और कभी पीछे वह झुकता है। सचमुच, इस समय आर्यसमाजके सामने जीवन और मृत्युका प्रश्न है। यदि तो इस खाडीको पार कर आर्यसमाज फिरसे महर्षिके पीछे हो लिया तो उसका जीवन सुरक्षित है, उसकी विजय है। नहीं तो, खाडीमें पडकर आर्यसमाजको अपने जीवनसे हाथ धोना ही पडगा। सैकडों संस्थाओं और संगठनोंकी तरह आर्यसमाजका नाम भी इतिहासके पन्नोंपर लिखा रह जायगा। वह भी चारवाक की तरह एक नास्तिक सम्प्रदाय बन जायगा। काली पगडी, लंगर, धूम धाम, सभासद और बाह्य आडम्बर तो जीवनकी साक्षी हैं, न कि जीवन इनसे पैदा होता है। वे ही दोष इस समय आर्यजीवन को घुनकी तरह खोखला कर रहे हैं, जिन्हें महर्षिने दूसरे सम्प्रदायों, विशेषत: प्रार्थनासमाज और ब्राह्मसमाजमें दिखाया है। महर्षिके उपदेश और आदेशके अनुकूल क्रियामय व्यावहारिक जीवनकी कमी ही आर्यसमाजके असली जीवनको सन्देहास्पद बनाये हुये है। महर्षिके सिद्धान्तोंके प्रचारके लिये आर्यसमाजसे अलग आर्य-

समाजियों द्वारा ही 'जातपांत-तोडक-मण्डल' व 'आर्य-स्वराज्य-सभा' आदि संस्थाओंका बनाया जाना ही आर्यसमाजमें क्रियामय जीवनकी कमीकी प्रबल साक्षी है। इस प्रकार शक्तियां बिखरती हैं। जीवनके टुकडे टुकडे हो जाते हैं। समाज और राष्ट्रका अध:पात हो जाता है।

बात यह है कि प्रत्येक समाज और राष्ट्रके जीवनमें विकट परीक्षाका समय उपस्थित हुआ करता है। इस समयमें सफल हुये समाज और राष्ट्र सदाके लिये जीवित रह जाते हैं किन्तु थोडासा भी डगमगाने वालोंकी सदाके लिए नैतिक मृत्यु हो जाती है। पराधीनताके समय क्रान्तिके लिए पैदा हुए समाजोंके लिए तो यह समय और भी अधिक विकट हुआ करता है। मुसलमानी समयका एकही उदाहरण लीजिये। उस समय देशकी स्वतन्त्रताके लिए कई समाज पैदा हुये। सिक्ख, राजपूत और मराठा उनमें प्रमुख हैं। गुरू गोविन्दसिंहके शिष्य अकालियोंने उस समय सर्वस्व त्यागकर भी मुगल सम्राटके सामने सिर नहीं झुकाया, वे आज भी जीवित हैं; उनकी कटार, काली पगडी और जत्थोंसे अब भी सरकार भय खाती है। मराठोंने भी सिर ऊंचा रक्खा, उनमें भी इस समय जीवन और प्राण हैं; सरकारकी लाल किताबोंमें इस समय भी चितपावन-ब्राह्मणोंका नाम लिखा हुआ है। प्रात:स्मरणीय महाराणा प्रतापसिंहकी शूरता व वीरताके होते हुए भी मानसिंह सरीखे अनेकों राजपूतोंने अपनी लडकियें मुगल सम्राटोंको देकर उनकी आधीनता स्वीकारकी। आज क्या है? आज देशके राजनीतिक जीवनमें से राजपूतोंका अस्तित्व बिलकुल मिटसा गया

है। आर्यसमाजके जीवनमें भी उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदीके शुरु में परीक्षाका ऐसा ही समय उपस्थित हुआ। " दयानन्द-ऐंगलो-वैदिक-कालेज " की पाठविधि के निश्चित करनेके समय आर्यसमाजकी पहिली परीक्षा हुई। निश्चय ही, उस समय आर्यसमाजके एक बडे हिस्से की नैतिक-मृत्यु होगई। वह पहिला और बडा धक्का आर्यजीवनके आदर्शको लगा। उस समय भी कुछ आर्य भाई संभले हुये थे। सन १९०६-७के सरकारी-दमनके समय आर्यसमाज फिर कसौटीपर कसा गया। लाला लाजपतराय और भाई परमानन्दजी आदि कैद किये गये। ' सत्यार्थप्रकाश ' को जब्त करनेकी धमकियां दी गईं। 'सत्यार्थप्रकाश' के विरुद्ध मुकद्दमे भी चले। पंजाब और संयुक्तप्रान्तमें आर्यजीवनको कुचलनेकी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष भारी चेष्टायें की गईं। बस, इस समय आर्यसमाज डगमगाया। इसी समय आर्यसमाजमें नैतिक-अधःपातका श्रीगणेश हुआ। आर्यजीवनकी ज्योति का दिया टिमटिमाने लगा। आर्यसमाजमें राजपूतों सरीखी कायरताने प्रवेश किया। एक विस्तृत सार्वजनिक-संगठन सम्प्रदाय सा बनने लगा। असली स्वरूपके भूलतेही कमजोरियोंने चारों ओर से हमला बोल दिया। आर्यजीवन की राष्ट्रीयता पर साम्प्रदायिकता की विजय हुई। महर्षि तो कोई नया मत चलाना नहीं चाहते थे, किन्तु देशके दुर्भाग्यों और आर्य समाजियोंकी कमजोरीसे एक नये मतकी नींव पडही तो गई।

एक दिन था आर्यसमाजसे सरकार थरथर कांपती थी। आर्यसमाजी होनेसेही बहुतसोंको सरकारी नौकरियोंके ऊंचे ओहदोंके लिये अयोग्य समझा जाता था। गुरुकुल-कांगडीके चारों ओर

'सी. आई. डी.'का कड़ा पहिरा रहा करता था। उसके मकानों तहोंमेंसे सरकारी लोगोंको बाम्ब फैक्टरियोंकी गन्ध आया करती थी। वहांके विद्यार्थियोंकी घुडसवारी व तीरन्दाजीकी खेलकूदमेंभी सरकारी लोगोंको भयंकर-राजनीतिक-षड्यन्त्र दीखा करते थे। वेद एक सूक्तकी वैदिक व्याख्यापर ही श्रीमान श्रीपाद दामोदर सातवलेकरको गुरुकुलमेंही कैद किया गया था। महाराष्ट्र-प्रान्तके समर्थ विद्यालयकी तरहही गुरुकुलकोभी बडी भयकंर संस्था समझा जाता था। किन्तु अब, सब उलटा है। शायदही आर्यसमाजसे सरकारको कुछ डर हो। डर हो भी कैसे, जब हमही आर्यजीवनका आदर्श भूल गये। हमनेही महर्षिके राष्ट्रीय स्वरूपका ध्यान करना छोड दिया। आपसकेही झगडे हमने इतने बढा लिये की महर्षिके राष्ट्रीयस्वरूपकी ओर देखनेकी फुरसतही न रही। हुआ वही जो होना था। महर्षिसे हम पिछड गये। अन्धोंकी तरह भटकने लगे। न तो आर्यजीवनमें राष्ट्रीयताही रही और न त्याग, तपस्या, कष्टसहन आदि गुणही रहे। किसी दिन पारस्परिक-परिचयके लिये 'नमस्ते' कहनाही बस होता था। आज समाजके प्रधान या मन्त्रीके पत्रपर भी विश्वास नहीं होता। पारस्परिक विश्वास भी उठ गया। जब राष्ट्रधर्मही न रहा तब समाजधर्म और व्यक्तिधर्मभी कैसे रहते? ये सब परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। क्या हम फिर से राष्ट्रधर्मके सम्पादनका यत्न न करेंगे?

'सचाई' किसी एकही समाज या संस्थाकी 'वपौती' है। उसके प्रचारके लिए तो अनेकों महापुरुष एकके बाद एक आते रहते हैं। अनेक समाज और संस्थायें बनती रहती हैं। नयोंका

धर्म पुरानोंकी रियायत नहीं करता है। आर्यसमाज यदि ढीला रहेगा तो निश्चयही दूसरे समाज 'सचाई'के प्रचारके लिए उठ होंगे। अछूतोद्धारकी समस्याका हल आर्यसमाजकी प्रतीक्षा करता रहा। जातपातके तोडनेकी सचाईने भी एक मण्डलको खडा करही तो दिया। वैदिक-साहित्य भी आर्यसमाजकी मर्यादा के बिना न रहेगा, यदि आर्यसमाज उसकी ओरसे ऐसेही उदासीन बना रहा। महर्षिकी राष्ट्रीय भावनाको आर्यसमाजने छोड दिया, किन्तु वह मरी नहीं। आज भी वह फल फूल रही है। महर्षिके बाद भी अनेक महापुरुष और संगठन उसके लिये काम करनेको उठ खडे हुए। 'सचाई' को किसी नीति, चाल या दावसे दबा रखना कुछ समयके लिये सुगम है, किन्तु सदाके लिए असम्भव है। वह तो ज्योति है, ज्वालामुखीकी लपट है। सात समुद्रकी गहराईसे व पृथिवीके पेटमेंसेभी वह प्रगट होती ही है। इसलिये यह समझना भूल और भारी भूल है कि महर्षि दयानन्द उसका ठेका केवल आर्यसमाजकोही दे गये हैं। उसके प्रचार और व्यवहारके लिए वे अपने पीछे आर्यसमाजको छोड अवश्य गये हैं किन्तु नये समाज या संगठनका पैदा होना उन्होंने न रोका है और न वे रोक ही सकते थे।

आर्यसमाजके सामने इस समय बडी बिकट समस्या है। एक ओर जीवन और दूसरी ओर मृत्यु है। इस लेखककी सम्मतिमें महर्षिके राष्ट्रीय स्वरूपको समझते हुये राष्ट्र-धर्मके धारण करनेमें आर्य जीवनकी रक्षा है, अन्यथा इस भूमिपर खडा होकर कौन नहीं गिरा है? परमात्मासे यही प्रार्थना है कि वह प्रत्येक

आर्यसमाजीको शक्ति दे कि वह महर्षिके राष्ट्रीय स्वरूपका अध्ययन कर सके। उनके राष्ट्रीय आदर्श और धार्मिक आदेशके अपना जीवन बनाये। उनकी राष्ट्रीय शिक्षा व धार्मिक दीक्षा दर्शमें शिक्षित व दीक्षित होकर उसीमें ओत प्रोत होजाय। आत्माके दिव्य प्रकाशका एक एक किरण एक एक आर्यके रात्मामें पहुंचकर उसे जगमगा दे, जिससे प्रत्येक आर्य ऋणसे उऋण होता हुआ देश, जाति और राष्ट्रके ऋणसे भी हो सके।

यदि महर्षिका जन्मशताब्दि-उत्सव कुछ एक की अन्तर में भी उस ज्योतिको जगमगा गया, तो निश्चय ही उसका आना सफल होगा।

इति शम्